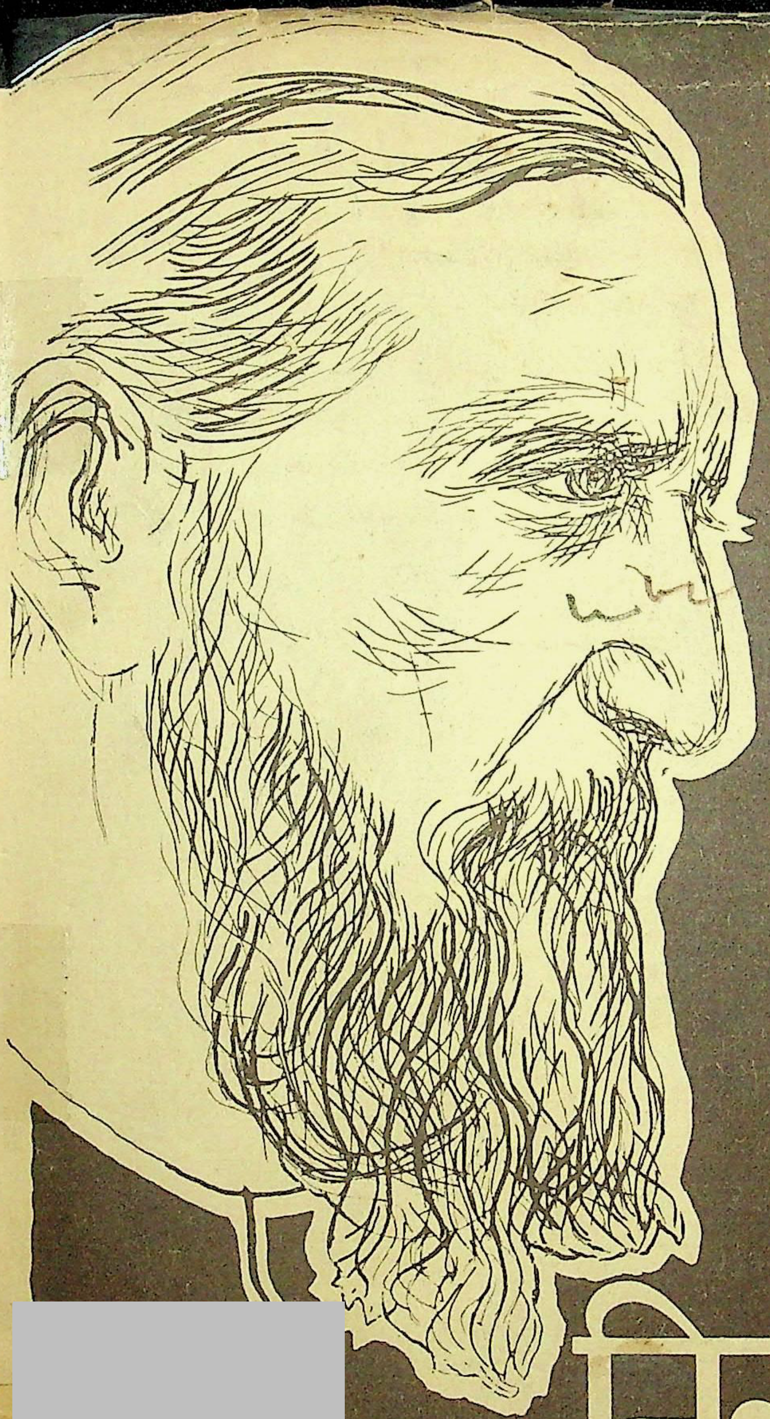

निराला रचनावली

1

निराला "आरम्भ से ही विद्रोही कवि के रूप में हिन्दी में दिखायी पड़े। गतानुगतिकता के प्रति तीव्र विद्रोह उनकी कविताओं में आदि से अन्त तक बना रहा। व्यक्तित्व की जैसी निर्बाध अभिव्यक्ति इनकी रचनाओं में हुई है वैसी अन्य छायावादी कवियों में नहीं हुई।..... सर्वत्र व्यक्तित्व की अत्यन्त परुष अभिव्यक्ति ही **निराला** की कविताओं का प्रधान आकर्षण है। फिर भी विरोधाभास यह है कि **निराला** में अपने व्यक्तित्व को सबसे अलग करके अभिव्यक्त करने की चेतना सबसे कम है।.... यह ध्यान देने की बात है कि **निरालाजी** के आरम्भिक प्रयोग छन्द के बन्धन से मुक्ति पाने का प्रयास है। छन्द के बन्धनों के प्रति विद्रोह करके उन्होंने उस मध्ययुगीन मनोवृत्ति पर ही पहला आघात किया था जो छन्द और कविता को प्रायः समानार्थक समझने लगी थी। ....परन्तु **निरालाजी** ने जब छन्दों के प्रति विद्रोह किया तो उनका उद्देश्य छन्द की अनुपयोगिता बताना नहीं था। वे केवल कविता में भावों की – व्यक्तिगत अनुभूति के भावों की – स्वच्छन्द अभिव्यक्ति को महत्त्व देना चाहते थे। जिसे वे मुक्तछन्द कहते थे उसमें भी एक प्रकार की झंकार और एक प्रकार का ताल विद्यमान है। **परिमल** की जिन रचनाओं में वस्तु-व्यंजना की ओर कवि का ध्यान है उनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं हुआ किन्तु 'तुम और मैं', 'जुही की कली'-जैसी कविताओं में उनकी कल्पना उनके आवेगों के साथ होड़ करती है। यही कारण है कि ये कविताएँ बहुत लोकप्रिय हुई हैं। बड़े कथात्मक प्रयोगों में **निरालाजी** को अधिक सफलता मिली है। वे पन्त की तरह अत्यधिक वैयक्तिकतावादी कवि नहीं हैं। बड़े आख्यानों-जैसे काव्य-विषय में उन्हें वस्तु-व्यंजना का भी अवसर मिलता है और कल्पना के पंख पसारने का भी मौका मिल जाता है। इसीलिए उनमें **निराला** अधिक सफल हुए हैं। 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज-स्मृति'-जैसी कविताएँ उनकी सर्वोत्तम कृतियाँ हैं। इनमें भाषा का अद्भुत प्रवाह पाठक को निरन्तर व्यस्त बनाये रहता है। कल्पना यहाँ आवेगों के सामने फीकी लगती है।"

हजारीप्रसाद द्विवेदी

परिमल, **गीतिका**, **अनामिका** और **तुलसीदास** नामक काव्यकृतियों को संजोये हुए **रचनावली** का यह खण्ड महाकवि की पूर्ववर्ती काव्य-साधना का सजीव साक्ष्य प्रस्तुत करता है। विचार-समृद्ध भावोद्रेक और सहज उदात्त स्वर निराला-काव्य की विशिष्ट पहचान है और अपनी काव्य-साधना के माध्यम से उन्होंने वस्तुओं एवं घटनाओं के भीतर पैठकर असाधारण रूप से भावात्मक सत्य का सन्धान किया है।

नि. 1

निराला निराला निराला निराला निराला

72792

72792

निराला रचनावली

कविताएँ : 1920-1938

परिमल, गीतिका, अनामिका, तुलसीदास

तुम तुंग हिमालय श्रृंग और मैं चंचल गति सुर-सरिता

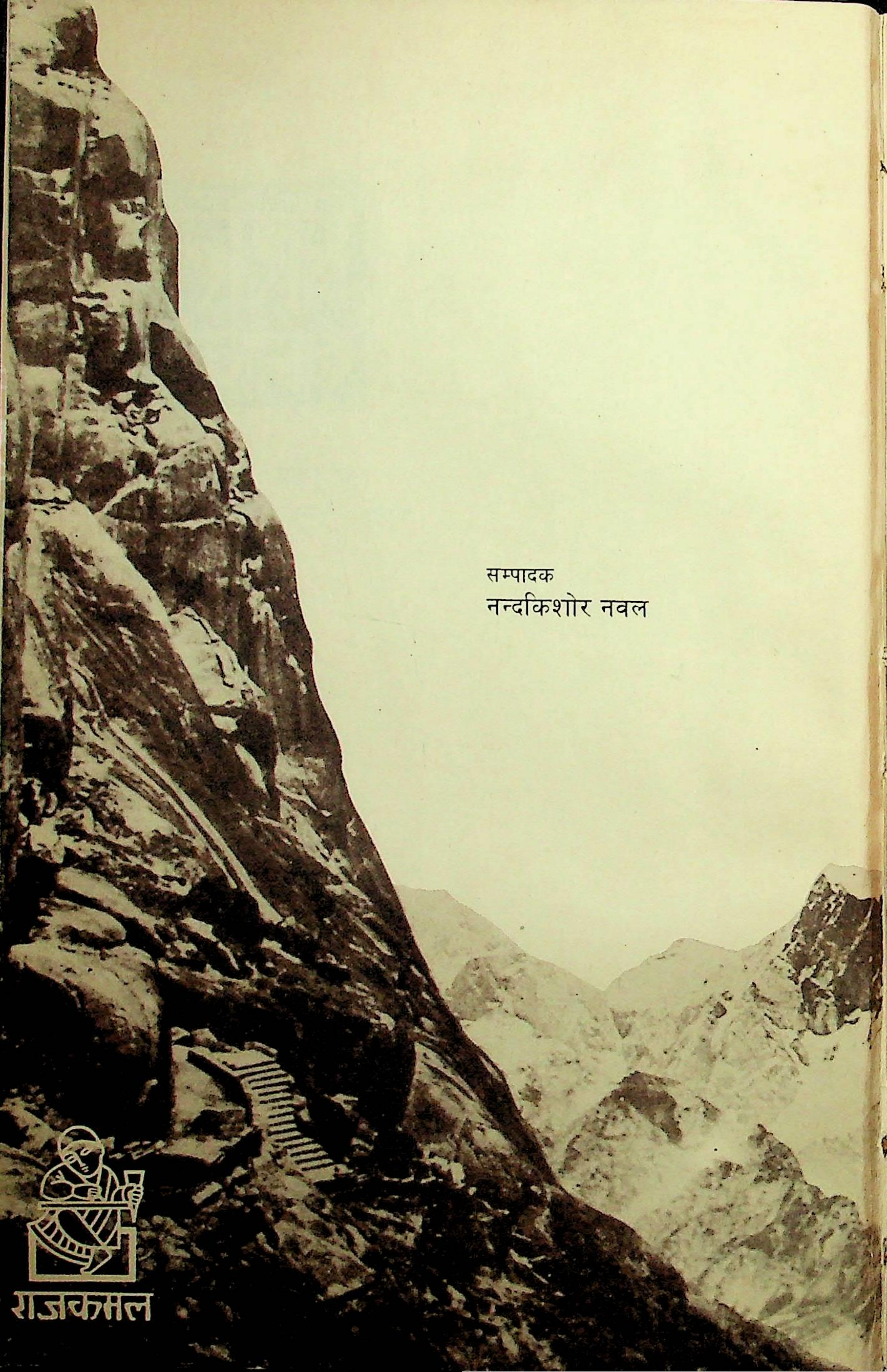

सम्पादक
नन्दकिशोर नवल

राजकमल

72792
72792

निराला रचनावली

1

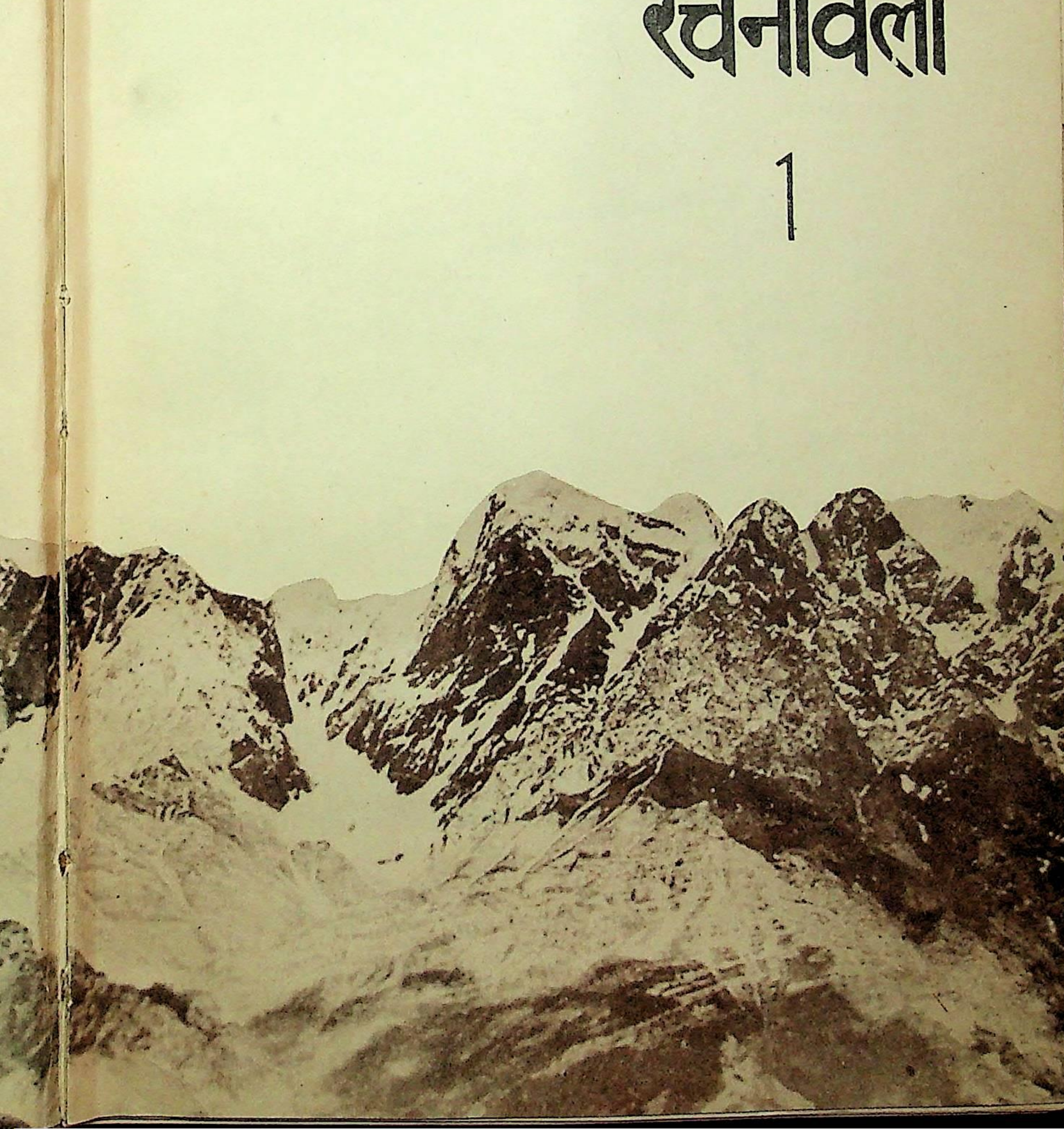

निराला रचनावली भाग - 1
सं० नन्दकिशोर नवल

मूल्य
प्रति खण्ड रु० 75.00
सम्पूर्ण सैट रु० 600.00

© रामकृष्ण त्रिपाठी

द्वितीय संस्करण
मार्च, 1983

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्र[illegible]
8 नेताजी सुभाष मार्ग[illegible]
नयी दिल्ली - 110 0[illegible]

मुद्रक
रुचिका प्रिन्टर्स
नवीन शाहदरा
दिल्ली - 110 032

आवरण तथा
प्रारम्भिक पृष्ठ :
प्रभात आफसेट प्रेस,
दरियागंज, नयी दिल्ली

कला-पक्ष

आवरण के लिए
निराला का रेखांकन :
हरिपाल त्यागी

कला - संयोजना :
चाँद चौधरी

NIRALA
RACHANAVALI
Collected Works of
Suryakant Tripathi 'Nirala'

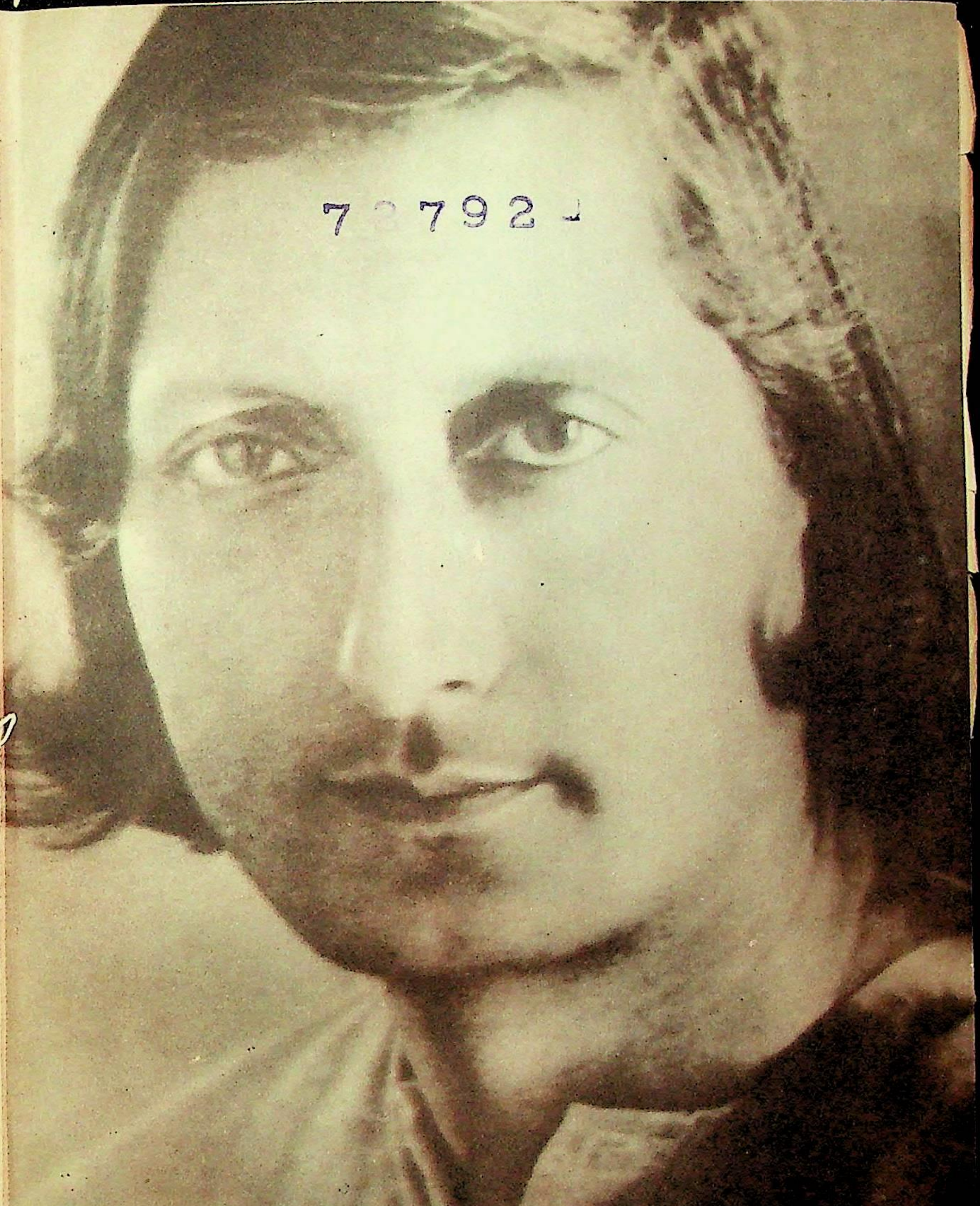

1934

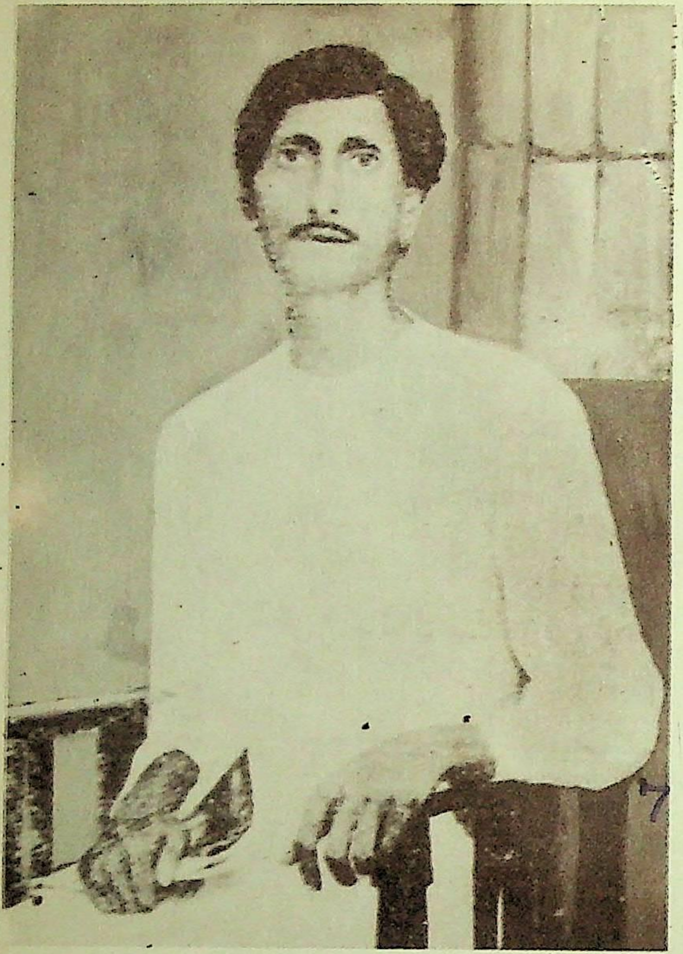

7[illegible]792

22 फरवरी 1936

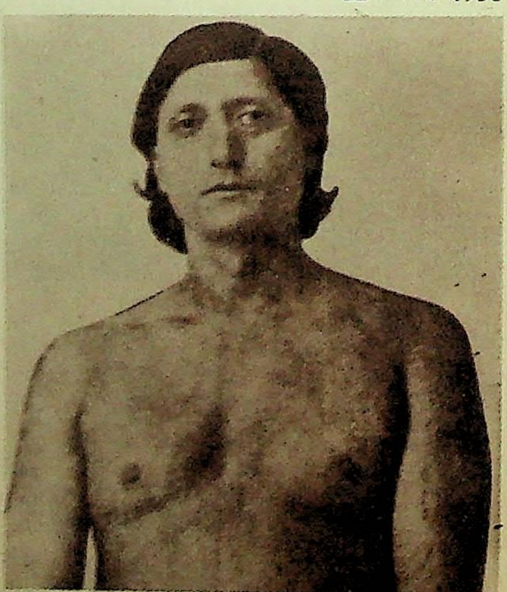

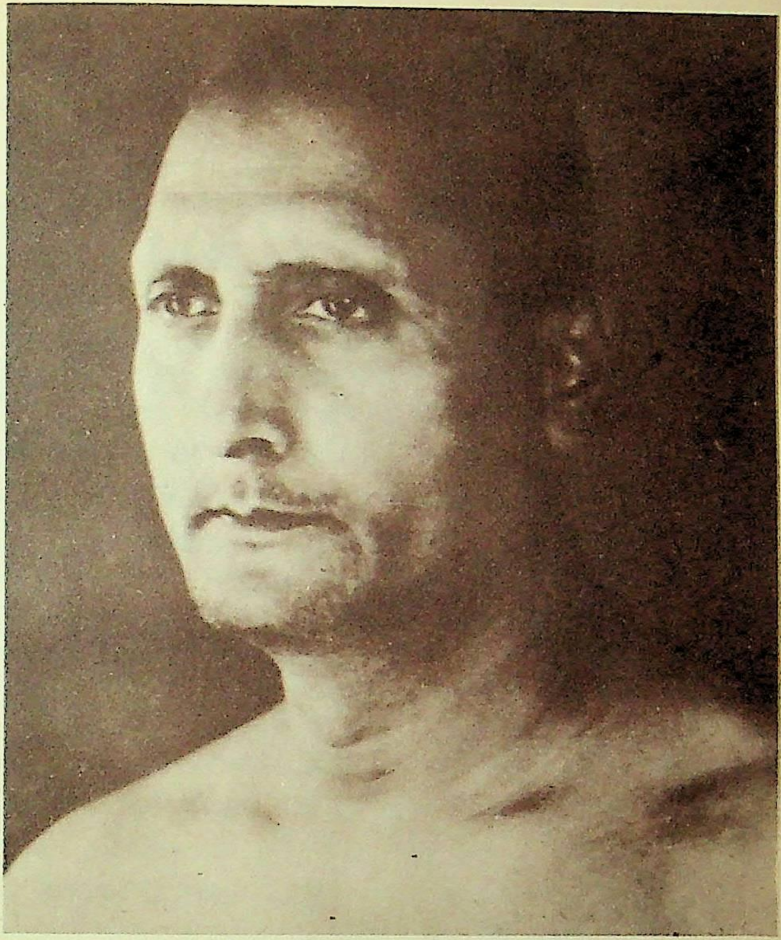

72792

आत्मज रामकृष्ण त्रिपाठी
के साथ

तोड़ती पत्थर

वह तोड़ती पत्थर!—
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।

कोई न छायादार
पेड़ वह, जिसके तले बैठी हुई, स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ करती बार बार प्रहार;
सामने तरुमालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप,
गर्मियों के दिन, दिवा का
तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई—भू,
गर्द चिनगीं छा गईं।
प्रायः हुई दुपहर:—
वह तोड़ती पत्थर।

देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा छिन्नतार,
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा,—
मैं तोड़ती पत्थर।

निराला की हस्तलिपि में उनकी एक बहुचर्चित कविता

आभार

निराला रचनावली प्रकाशित हो रही है, यह राजकमल के लिए गौरव की बात है। जिस प्रकार महाकवि की जीवन-यात्रा संघर्षपूर्ण रही, उसी प्रकार इस **रचनावली** के प्रकाशन में तरह-तरह की कठिनाइयाँ और बाधाएँ सामने आयीं। किन्तु बड़े धैर्य के साथ हमने सभी कठिनाइयों को हल किया और इसके प्रकाशन में सभी निराला-प्रेमियों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग हमें मिला।

रचनावली में भारती भण्डार, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, आराधना, सुकुल की बीवी, प्रबन्ध-प्रतिमा, निरुपमा और अपरा], निराला प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद, की चार पुस्तकें [प्रभावती, बिल्लेसुर बकरिहा, चोटी की पकड़ और चतुरी चमार] तथा लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [अर्चना, बेला, नये पत्ते, कुकुरमुत्ता, अणिमा, देवी, काले कारनामे और रवीन्द्र-कविता-कानन] संकलित की गयी हैं और इन संस्थाओं ने अपनी पुस्तकें **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी है। यह स्वस्थ परम्परा हिन्दी-प्रकाशन के लिए स्वागत-योग्य है।

रचनावली में जिन चित्रों का उपयोग किया गया है वे हमें सर्वश्री अमृतलाल नागर, ओंकार शरद, अजितकुमार, नेमिचन्द्र जैन, रामकृष्ण त्रिपाठी तथा इण्डियन आर्ट स्टूडियो देहरादून के श्री नवीन नौटियाल से प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त श्री बरुआ द्वारा सम्पादित 'महाकवि निराला अभिनन्दन ग्रन्थ' से भी कई चित्र लिये गये हैं।

रचनावली के पत्रोंवाले खण्ड में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पुस्तक 'निराला के पत्र' से महाकवि द्वारा शास्त्रीजी को लिखे गये पत्र संकलित हुए हैं। श्री सोहनलाल भार्गव, लखनऊ, ने स्वर्गीय श्री दुलारे-लाल भार्गव के नाम लिखे गये पत्र और श्री रामकृष्ण त्रिपाठी, इलाहाबाद, ने अपने नाम लिखे गये पत्र, जो 'निराला की साहित्य साधना' के तीसरे खण्ड में संकलित हैं, **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी।

उपरोक्त सभी संस्थाओं और महानुभावों तथा परोक्ष रूप से सहायक होनेवाले अन्य व्यक्तियों के हम आभारी हैं। उनके सहयोग से ही यह स्वप्न साकार हुआ है।

19 जनवरी, '83 **शीला सन्धू**

दो शब्द

मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि पिताजी की सभी कृतियाँ ग्रन्थावली के रूप में छपें। लगभग आठ-नौ वर्ष पहले एक प्रयास हुआ था, लेकिन ग्रन्थावली के लिए मेरी जो कल्पना थी वह पूरी नहीं हो सकी; तद्यपि उस ग्रन्थावली के तीन खण्ड ही प्रकाशित हुए और अनेकानेक बाधाओं के चलते वह कार्य अधूरा रह गया। आज आठ खण्डों में **निराला रचनावली** का प्रकाशन व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए तो प्रसन्नता की बात है ही, सम्पूर्ण हिन्दी-जगत के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। पिताजी की अनेक रचनाएँ अभी तक पुस्तक-रूप में प्रकाशित नहीं थीं, और अनेक रचनाएँ पुस्तक-रूप में प्रकाशित होकर भी सुलभ नहीं थीं। अत: आठ खण्डों में प्रकाशित इस **रचनावली** का विशेष महत्त्व है, जिसमें पिताजी की प्रकाशित-अप्रकाशित सभी रचनाएँ, सम्पादकीय टिप्पणियाँ और अनेक महत्त्वपूर्ण पत्र संकलित हैं। मेरा चिर-संचित स्वप्न अब साकार हुआ, और विश्वास है कि हिन्दी-जगत में इस **रचनावली** का समुचित स्वागत होगा।

राजकमल प्रकाशन की प्रवन्ध-निदेशिका श्रीमती शीला सन्धू ने पिछले चार सालों में पिताजी की चौदह पुस्तकें नवीन साज-सज्जा के साथ पुनर्मुद्रित करके जिस लगन और निराला-साहित्य के प्रति अपनी आस्था का परिचय दिया था वह **निराला रचनावली** के रूप में मूर्त हुई है। बहुत-सी कठिनाइयों, और विघ्न-बाधाओं के बावजूद जिस धैर्य और लगन के साथ इसके प्रकाशन का साहस किया गया है वह भी अपने आपमें अभूतपूर्व घटना है। बहुत कम समय में, व्यवहारत: दो महीने की अवधि में ही, इस **रचनावली** का मुद्रण-प्रकाशन हुआ, और वह भी इतने भव्य और सुरुचिपूर्ण ढंग से, इसके लिए श्रीमती सन्धू के साथ उनके वे सारे सहकर्मी बधाई के पात्र हैं जिन्होंने दिन-रात परिश्रम करके इस कार्य को समय से पूरा किया। डॉ. नन्दकिशोर नवल की सम्पादकीय सूझ-बूझ ने **रचनावली** के संयोजन को वैज्ञानिक आधार दिया।

अन्त में मैं उन सभी साहित्यिकों, निरालाजी के प्रेमियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिनका सहयोग और सद्भाव, परोक्ष या अपरोक्ष रूप में मुझे और प्रकाशन संस्था को मिलता रहा है।

दिनाङ्क,
१६/१/८३

रामकृष्ण त्रिपाठी
'निराला-निवास,'
२६५, छोटी वासुकी,
दारागंज,
इलाहाबाद (उ०प्र०)

ज्ञप्ति

श्रेष्ठ साहित्यकारों के समग्र कृतित्व का एकत्र प्रकाशन कई दृष्टियों से उपयोगी होता है। उससे अध्ययन में तो सुविधा होती ही है, मूल्यांकन में भी सुविधा होती है। हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना ने यह स्थापित किया है कि निराला हिन्दी के महान् प्रगतिशील साहित्यकारों की परम्परा की अन्यतम कड़ी थे। प्रस्तुत **रचनावली** से इस मूल्यांकन को एक सुदृढ़ आधार प्राप्त होता है।

निराला कवि तो थे ही, वे कथाकार और आलोचक भी थे। उन्होंने अनेकानेक साहित्येतर विषयों पर ढेर सारे निबन्ध और टिप्पणियाँ भी लिखी हैं। वे करीब छः वर्षों तक लखनऊ से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'सुधा' के सम्पादकीय विभाग से सम्बद्ध रहे। उस दौर में उन्हें साहित्य से हटकर दूसरे विषयों पर सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखने का विशेष अवसर मिला। उन्होंने बच्चों और साधारण पाठकों के लिए भी पर्याप्त साहित्य रचा है। इसके अलावा वे बहुत अच्छे पत्र-लेखक भी थे। उनके इस समग्र कृतित्व को, जिसका एक अंश अब तक दुर्लभ और असंकलित था, **रचनावली** में प्रस्तुत करना एक समस्या थी। इसके समाधान के लिए निराला-साहित्य को पहले विधाओं में विभाजित किया गया है, यथा कविता, कथा-साहित्य, आलोचना, निबन्ध और टिप्पणियाँ, जीवनी, पुरा-कथा और पत्र, और फिर प्रत्येक विधा की रचनाओं को रचना-क्रम से सजाने का प्रयास किया गया है। कविता और कथा-साहित्य के दो-दो खण्ड हुए हैं। कथा-साहित्य के पहले खण्ड में केवल उपन्यास हैं और दूसरे खण्ड में उपन्यासों के साथ कहानियाँ भी। निराला की आलोचना एक खण्ड में आ गयी है। उसके बाद के यानी छठे खण्ड में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित उनके निबन्ध और टिप्पणियाँ संकलित हुई हैं। इस खण्ड में छोटी-बड़ी पुस्तक-समीक्षाएँ भी हैं। सातवें खण्ड में मुख्य रूप से वे जीवनियाँ हैं, जो निराला ने बच्चों के लिए लिखी थीं। आठवें खण्ड में उनके द्वारा लिखी गयी पुराकथाएँ और पत्र हैं। रचना-क्रम से रचनाओं को सजाने से यह लाभ हुआ है कि निराला का साहित्य एक सजीव और गतिशील वस्तु के रूप में सामने आया है। उससे उनके व्यक्तित्व और प्रतिभा का विकासमान रूप प्रत्यक्ष हुआ है।

निराला-सम्बन्धी शोध-प्रबन्धों, आलोचना-पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में निराला-साहित्य की जो सूची मिलती है उसमें कई ऐसी पुस्तकों का उल्लेख

मिलता है, जो या तो प्रकाशित नहीं हुईं, या लिखी ही नहीं गयीं। **वर्षागीत** नाम से निराला का कोई कविता-संग्रह नहीं छपा। **उच्छृंखल** और **हाथों लिया** नामक उपन्यास लिखने की उन्होंने योजना बनायी थी, लेकिन वह कार्यान्वित नहीं हुई। इसी तरह का उनका एक अलिखित उपन्यास **सरकार की आँखें** भी है। **चमेली** और **इन्दुलेखा** निराला के पूरे नहीं बल्कि अधूरे उपन्यास हैं। इनका उन्होंने आरम्भ ही किया था। इनके लिखित अंश **रचनावली** के चौथे खण्ड में संकलित कर लिये गये हैं। तीन नाटक भी निराला-लिखित बतलाये जाते हैं—**शकुन्तला**, **समाज** और **ऊषा**। इनमें से पहले दो नाटक निराला ने निहालचन्द एण्ड को., कलकत्ता के स्वामी श्री निहालचन्द वर्मा के आग्रह पर लिखे थे। यह अनुमानतः 1927-28 की बात है, जब कलकत्ता और 'मतवाला' से उनका अन्तिम रूप से सम्बन्ध-विच्छेद न हुआ था। श्री वर्मा के भाई श्री दयाराम बेरी ने लिखा है कि "**शकुन्तला**···नियमित समय पर छप भी गयी थी।" (**महाकवि श्री निराला अभिनन्दन ग्रन्थ**, सम्पादक श्री बरुआ, पृ. 57) लेकिन 1943 ई. में स्वयं निराला ने डा. रामविलास शर्मा को सूचित किया था कि **समाज** और **शकुन्तला** अभी तक प्रकाश में नहीं आये [**निराला की साहित्य-साधना** (3), पृ. 399] इसी आधार पर यह समझा गया था कि इनमें से कोई नाटक आज तक प्रकाशित नहीं हुआ और अब उनकी पाण्डुलिपि का कहीं कोई चिह्न नहीं है। बाद में श्री कृष्णचन्द्र बेरी ने यह सूचना दी कि "निरालाजी लिखित **शकुन्तला** का प्रकाशन हमारे यहाँ से हुआ था किन्तु वह उनके नाम से नहीं छपी थी। वे उन दिनों हमारे यहाँ डेली-वेजेज पर पौराणिक पुस्तकें लिखते थे। **शकुन्तला** उसी क्रम की एक पुस्तक है। यह मेरे स्वर्गीय पिता निहालचन्द वर्मा के नाम से छपी थी। यह पौराणिक उपाख्यान है, नाटक नहीं।" इससे श्री दयाराम बेरी के कथन की पुष्टि होती है। पुस्तक नाटक है या उपाख्यान, इसका निर्णय उसे देखकर किया जा सकता था, लेकिन दुर्भाग्यवश बहुत प्रयास करने पर भी वह पुस्तक नहीं मिली। **समाज** माहेश्वरी-कोलवार-प्रकरण पर आधारित एक प्रहसन था, जो प्रकाशित नहीं हुआ, लेकिन उसका हिन्दी नाट्य समिति की ओर से मंचन हुआ था। उसमें स्वयं निराला दो पात्रों की भूमिका में उतरे थे। **ऊषा** नामक नाटिका 'सुधा' में विज्ञापित हुई थी, पर यह लिखी नहीं गयी। **प्रबन्ध-परिचय** अथवा **प्रबन्ध-प्रतीक** के नाम से भी निराला का कोई निबन्ध-संग्रह कभी नहीं निकला। इसी तरह **वैदिक-साहित्य** नामक भी उनकी कोई मौलिक अथवा अनूदित पुस्तक नहीं है।

रस-अलंकार नामक पुस्तक निराला ने 1926 में पुस्तक भण्डार, लहेरिया-सराय के लिए लिखी थी। यह छात्रोपयोगी पुस्तक थी। इस पुस्तक का प्रकाशन निश्चित था, पर किसी कारण वह भी हमेशा के लिए टल गया और **समाज** नामक नाटक की तरह इसकी पाण्डुलिपि भी नष्ट हो गयी। दी पोपुलर ट्रेडिंग कम्पनी, कलकत्ता के आदेश पर 1928 ई. में निराला ने उन हिन्दीभाषियों के लिए, जो बंगला सीखना चाहते थे, एक पुस्तक लिखी थी—**हिन्दी बंगला-शिक्षा**। यह वहीं से उसी वर्ष के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित भी हुई थी। यह चूंकि शुद्ध व्यावसायिक उद्देश्य से लिखी गयी पुस्तक है इसलिए इसे **रचनावली** में सम्मिलित नहीं किया गया।

निराला ने मौलिक लेखन के साथ-साथ ढेर सारा अनुवाद का काम भी किया है। उन्होंने **रामचरितमानस** का खड़ी बोली में पद्यबद्ध रूपान्तरण शुरू किया था जो उसके प्रथम सोपान के आरम्भिक अंश के रूपान्तरण से आगे नहीं बढ़ा। पुस्तक-रूप में विनय-भाग का रूपान्तर 1948 ई. में प्रकाशित हुआ, जो **रचनावली** के खण्ड दो (पहला दौर) के परिशिष्ट में संकलित है। निराला के नाम पर **फुलवारी-लीला** नामक एक और अप्रकाशित पुस्तक का जिक्र मिलता है और कहा जाता है कि उसमें मानस के धनुष-यज्ञ से सम्बन्धित भाग का खड़ी बोली में पद्यबद्ध रूपान्तर था। श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने लिखा है कि "खाना खाने के बाद निरालाजी ने···रामायण का खड़ी बोली-रूप सुनाया। प्रसंग सीता-स्वयंवर का था जो मुझे बहुत सुन्दर और सार्थक लगा।" (**महाप्राण निराला**, पृ. 274) इसका मतलब यह है कि निराला ने पुष्पवाटिका-प्रसंग को भी खड़ी बोली में रूपान्तरित किया था, लेकिन इतना तय है कि वह पुस्तक रूप में नहीं निकला और आज वह सुलभ भी नहीं है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को 22 नवम्बर, 1947 के पत्र में उन्होंने लिखा था कि "जनकपुर दर्शन, वाटिका-गमन-खण्ड महादेवीजी को साहित्यकार-संसद से छपवाने के लिए" दिया है। (**निराला के पत्र**) महादेवीजी से दरयाफ्त करने पर मालूम हुआ कि निराला ने उन्हें **फुलवारी-दर्शन** की पाण्डुलिपि प्रकाशनार्थ देने को कहा था, लेकिन चूंकि रूपान्तरण पूरा नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने वह दी नहीं। 'मतवाला' के आरम्भिक वर्षों में कलकत्ता से **मनहर चित्रावली** नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। वह राजस्थानी चित्रकार पं. मोतीलाल शर्मा के चित्रों का संग्रह थी। चित्रों का परिचय ब्रजभाषा छन्दों में निराला ने लिखा था। उन छन्दों का स्वतन्त्र महत्त्व न होने से उन्हें **रचनावली** में संकलित नहीं किया गया।

यह प्रसिद्ध है कि निराला ने गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ के लिए रामचरितमानस की टीका लिखी थी। वह टीका पूरी हुई थी या नहीं, यह सन्दिग्ध है, बावजूद इसके कि गंगा-पुस्तक माला-कार्यालय के अध्यक्ष श्री दुलारेलाल भार्गव ने **रामायण की अन्तर्कथाएँ** नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि "निराला-जी ने हमारे अनुरोध पर **रामचरितमानस** की सुबोध टीका लिखी तथा प्रसंगा-नुसार अनेक महत्त्वपूर्ण अन्तर्कथाओं का समावेश कर उसे एक विशिष्टता प्रदान की।" यदि टीका पूरी हुई होती, तो किसी-न-किसी रूप में उसका प्रकाशन अवश्य हुआ होता। उसके स्थान पर बालकाण्ड के केवल आरम्भिक अंश का दो खण्डों में प्रकाशन हुआ जिनमें से किसी में टीकाकार का नाम नहीं दिया गया है। उन खण्डों में निराला ने जो अन्तर्कथाएँ दी थीं वे एक सौ बारह पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक के रूप में पूर्वोक्त नाम से काफी दिनों बाद (श्री सोहनलाल भार्गव की सूचना के अनुसार सम्भवतः 1956 ई. में) स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित हुईं। **अन्तर्कथाएँ** की भूमिका में भार्गवजी ने यह भी लिखा है कि "यदि पाठकों ने इसे अपनाया, तो शेष कथाएँ भी हम शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।" इससे भी ऐसा लगता है कि निराला ने मानस की पूरी टीका लिखी थी। लेकिन **अन्तर्कथाएँ** में प्रायः वही कथाएँ संग्रहीत हैं जो मानस की टीका के दो प्रकाशित खण्डों में आयी हैं। इस

पुस्तक का ही 1970 ई. में दूसरा संस्करण हुआ, पर 'शेष कथाएँ' अभी तक नहीं निकलीं। ऐसी स्थिति में डा. रामविलास शर्मा का यह कथन सही प्रतीत होता है कि 'टीका का काम बालकाण्ड के प्रारम्भिक अंशों को छोड़कर आगे न बढ़ा।" (**निराला की साहित्य-साधना** (1), प्रथम संस्करण, पृ. 188) **अन्तर्कथाएँ** चूँकि निराला की रचना है, इसीलिए उसे **रचनावली** के खण्ड आठ में संकलित कर लिया गया है। टीका-अंश को छोड़ दिया गया है, क्योंकि गद्यानुवाद में अनुवादक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का वैसा अवसर नहीं रहता, जैसा पद्यानुवाद में।

निराला ने बांग्ला से अनेक पुस्तकों का गद्य में अनुवाद किया है। उनमें एक पुस्तक **वात्स्यायन कामसूत्र** भी है। इस पुस्तक का अनुवाद भी उन्होंने 1929 ई. में श्री निहालचन्द वर्मा के आग्रह पर ही किया था। लेकिन यह पुस्तक भी प्रकाशित नहीं हुई और जैसा कि श्रीकृष्णचन्द्र बेरी कहते हैं, बहुत बाद को उन्होंने उक्त अनुवाद की पाण्डुलिपि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशनार्थ श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को दे दी। टण्डनजी ने वह पाण्डुलिपि साहित्यकार-संसद्, प्रयाग से प्रकाशनार्थ महादेवीजी को सौंप दी। निराला ने बांग्ला-ग्रन्थ **श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत** का तो तीन खण्डों में **श्री श्रीरामकृष्णवचनामृत** के नाम से हिन्दी में अनुवाद किया ही है, उन्होंने विवेकानन्द की पुस्तक **परिव्राजक** का भी, जो कि उनकी भ्रमण-कहानी है, हिन्दी में अनुवाद किया है। इसके अलावा इण्डियन प्रेस, प्रयाग के लिए उन्होने बंकिमचन्द्र के करीब एक दर्जन उपन्यासों का अनुवाद किया। कुछ अनुवाद उनका अंग्रेजी से भी किया हुआ है। विवेकानन्द की पुस्तक **राजयोग** का आधे से थोड़ा कम भाग उन्हीं द्वारा अनूदित है। उनकी **इण्डियन लेक्चर्स** नामक पूरी पुस्तक का उन्होंने **भारत में विवेकानन्द** नाम से अनुवाद किया है। **वचनामृत** और **परिव्राजक** के साथ ये पुस्तकें भी रामकृष्ण मठ, धंतोली, नागपुर से प्रकाशित हैं। इस अनुवाद-साहित्य को स्वभावतः **रचनावली** में समाविष्ट नहीं किया जा सकता था, नहीं किया गया है।

रचनावली के सम्बन्ध में सर्वाधिक मूल्यवान सुझाव डा. रामविलास शर्मा और डा. नामवर सिंह से प्राप्त हुए। डा. शर्मा से सामग्री-संकलन में भी सहायता मिली है। इस कार्य में श्री अमृतलाल नागर तथा श्री त्रिलोचन शास्त्री का अत्यधिक मूल्यवान सहयोग मिला। इसके अतिरिक्त सामग्री-संकलन में सर्वश्री सोहनलाल भार्गव, राजेन्द्रप्रसाद सिंह, वासुदेवनारायण 'आलोक', श्याम कश्यप, श्रीमती गीता शर्मा, प्रो. मटुकनाथ चौधरी, गौतमप्रसाद सिंह तथा अलखनारायण का सक्रिय सहयोग मिला। सामग्री-संकलन के लिए भारत भारद्वाज ने विशेष परिश्रम किया। सम्पादन-कार्य में पूर्वा, चिन्तन और सुप्रभात की सहायता उल्लेखनीय है। इन सबको धन्यवाद देकर हम निराला के प्रति इनकी भावना को औपचारिक नहीं बनाना चाहते।

रचनावली के सम्पादन में जिन पुस्तकालयों और संस्थाओं के पुस्तक और पत्रिका-संग्रह से हम लाभान्वित हुए हैं, उनमें मुख्य हैं: पटना कालेज पुस्तकालय, पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, अनुसन्धान पुस्तकालय (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना), श्रीरामकृष्ण मिशन आश्रम पुस्तकालय (पटना), उच्च विद्यालय

पुस्तकालय (चाँदपुरा, वैशाली), आर्यभाषा पुस्तकालय (नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी), 'आज'-कार्यालय (वाराणसी), सम्मेलन पुस्तकालय (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), भारती भवन (इलाहाबाद), लीडर प्रेस (इलाहाबाद), राष्ट्रीय पुस्तकालय (कलकत्ता), श्री बड़ा बाजार कुमार सभा पुस्तकालय (कलकत्ता), श्री हनुमान पुस्तकालय (सलकिया, हावड़ा) और जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल (तीन मूर्ति भवन, नयी दिल्ली)। इन पुस्तकालयों और संस्थाओं के अधिकारियों ने हमें जो सुविधाएँ दीं, उनके लिए हम उनके अनुगृहीत हैं।

निराला के अनन्य मित्र और हितचिन्तक आचार्य शिवपूजन सहाय ने उनके निधनोपरान्त एक लेख में लिखा था : "निराला तो निस्सन्देह धन्य थे! पर अब कोरा धन्य-धन्य कहने से कोई लाभ नहीं। उनकी समस्त रचनाओं को 'निराला ग्रन्थावली' के रूप में प्रकाशित करने का संगठित उद्योग होना चाहिए। उनकी वर्षी पर उनकी ग्रन्थावली की श्रद्धांजलि अर्पित हो सकती, तो हिन्दी-माता को वस्तुत: बड़ी सान्त्वना मिलती।" हिन्दी-माता को सान्त्वना प्रदान करने का यह कार्य निराला के निधन के करीब दो दशकों के बाद राजकमल प्रकाशन की प्रबन्ध-निदेशिका श्रीमती शीला सन्धू के प्रयास से सम्भव हुआ है। उन्होंने **रचनावली** के प्रकाशन की योजना से लेकर उसके कार्यान्वयन तक में जो गहरी अभिरुचि दिखलायी है, वह अत्यधिक श्लाघनीय है। यदि वे समय पर हमें सारे साधन सुलभ न करातीं, तो सम्पादन-कार्य कभी समय-सीमा के भीतर सम्पन्न न हो सकता था। **रचनावली** की प्रस्तुति का सारा कार्य राजकमल के प्रकाशन निदेशक श्री मोहन गुप्त की देख-रेख में हुआ है। उनकी सूझ-बूझ और श्रमनिष्ठा के बिना ऐसा चारु और भव्य प्रकाशन सम्भव न था। स्वभावत: श्रीमती सन्धू और श्री गुप्त हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

नन्दकिशोर नवल

रानीघाट लेन, महेन्द्रू,
पटना-800006,
12 नवम्बर, 1982

पहला खण्ड

निराला ने 1920 ई. के आसपास से कविता लिखना शुरू किया और प्रायः 1961 ई. तक लिखते रहे। उनकी करीब चालीस वर्षों की यह काव्य-साधना सामान्यतया तीन चरणों में विभाजित है। पहले चरण की कालावधि 1920 ई. से लेकर 1938 ई. तक है। दूसरा चरण 1939 ई. से शुरू होता है और 1949 ई. तक चलता है। तीसरे चरण का विस्तार 1950 ई. से लेकर 1961 ई. तक है। **रचनावली** में निराला की कविता को दो खण्डों में समेटा गया है। खण्ड एक में पहले चरण की कविताएँ संकलित की गयी हैं और खण्ड दो में शेष दो चरणों की।

पहले चरण में निराला की जो कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुईं, वे हैं : प्रथम **अनामिका**, **परिमल**, **गीतिका**, द्वितीय **अनामिका** और **तुलसीदास**। प्रथम **अनामिका** की जो प्रति देखने में आयी है, उसमें प्रकाशन-वर्ष का उल्लेख नहीं है। लेकिन उसमें पं. चन्द्रशेखर शास्त्री की जो सम्मति उद्धृत की गयी है, उसके नीचे 3 जुलाई 1923 की तिथि दी हुई है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पुस्तक 1923 ई. की जुलाई या अगस्त में छपकर बाहर आयी होगी। दूसरी बात यह कि इस पुस्तक में कवि का नाम सिर्फ सूर्यकान्त त्रिपाठी दिया गया है, यानी उसके साथ 'निराला' उपनाम जुड़ा हुआ नहीं है। यह सुपरिचित तथ्य है कि 'निराला' एक छद्मनाम था और वह निराला को 'मतवाला' के अनुप्रास पर दिया गया था। 'मतवाला' का प्रकाशन-काल है : 26 अगस्त, 1923। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्रथम **अनामिका** 'मतवाला' के प्रकाशन के पहले निकली थी। यदि ऐसा न होता तो कवि के नाम के साथ उपनाम के रूप में उसका 'छद्मनाम' भी अवश्य जुड़ा होता, जैसा कि हमें उसकी बाद की पुस्तको में देखने को मिलता है। 'मतवाला' के प्रवेशांक के अन्तिम पृष्ठ पर प्रथम **अनामिका** का विज्ञापन भी छपा है, जिसमें पुस्तक के प्रकाशित होने का पक्का संकेत है। इसके अलावा 22 दिसम्बर 1923 को 'मतवाला' का जो अंक निकला, उसमें निराला की 'जुही की कली' शीर्षक कविता इस सूचना के साथ छपी—'अनामिका से उद्धृत'। इसी समय 'समन्वय' [वर्ष 2, अंक 11, सौर अग्रहायण, संवत् 1980 वि. (नवम्बर-दिसम्बर, 1923)] में प्रथम **अनामिका** की समीक्षा भी निकली। इन दोनों बातों से भी पता चलता है कि प्रायः दिसम्बर, 1923 के पहले यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी थी। डा. रामविलास शर्मा ने **निराला की साहित्य-साधना** (3)

में 27 अक्तूबर, 1923 का पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी को लिखा गया निराला का एक पत्र दिया है, जिसमें उन्होंने लिखा था कि कलकत्ते में उनकी मुलाकात बाबू मैथिलीशरण गुप्त और श्री रायकृष्णदास से हुई, तो उन्होंने "एक-एक अनामिका दूनो जनेन क दीन।" इससे यह स्पष्ट है कि प्रथम **अनामिका** दिसम्बर, 1923 ही नहीं, 27 अक्तूबर, 1923 के भी पहले निकली। इसे श्री नवजादिकलाल श्रीवास्तव ने प्रकाशित किया था। पुस्तक बालकृष्ण प्रेस (23, शंकरघोष लेन, कलकत्ता) में छपी थी, जिसके मालिक श्री महादेवप्रसाद सेठ थे। प्रेस का जो पता था, वही प्रकाशक का भी था।

परिमल के प्रकाशन-वर्ष को लेकर कोई बखेड़ा नहीं है। इसके प्रथम संस्करण (गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ) में दी गयी सूचना के अनुसार यह पुस्तक संवत् 1986 (वि.) में प्रकाशित हुई। अक्तूबर 1929 की 'सुधा' में 'साहित्य-सूची' स्तम्भ के अन्तर्गत **परिमल** का प्रकाशन-काल सितम्बर 1929 बतलाया गया है। **साहित्य-साधना** (3) में 25 सितम्बर, 1929 का निराला को लिखा हुआ पं. नन्ददुलारे वाजपेयी का एक पत्र संकलित है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि "आज **परिमल** देखने को मिली।" इससे **परिमल** के सितम्बर, 1929 में प्रकाशित होने की बात की पुष्टि होती है। **गीतिका** के प्रथम संस्करण (भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद) में यह सूचना दी गयी है कि यह पुस्तक संवत् 1993 (वि.) में प्रकाशित हुई। निराला ने 7 नवम्बर, 1936 को डा. शर्मा को एक पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने उन्हें यह समाचार दिया था कि "**गीतिका** सोम-मंगल तक तैयार हो जायेगी।" [**साहित्य-साधना** (3)] उन्हीं को 9 नवम्बर, 1936 को वे पुनः लिखते हैं कि "**गीतिका** निकल गयी।" (उपर्युक्त) इससे यह स्पष्ट है कि **गीतिका** 1936 ई. के नवम्बर के आरम्भ में निकली।

द्वितीय **अनामिका** के प्रथम संस्करण (भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद) में जो सूचना दी गयी है उसके अनुसार यह पुस्तक संवत् 1995 (वि.) मे प्रकाशित हुई। 1995 में 57 घटाकर विद्वानों ने सरल ढंग से द्वितीय **अनामिका** का प्रकाशन-वर्ष 1938 ई. स्थिर कर दिया है। प्राप्त प्रमाणों से यह गलत साबित होता है। 31 दिसम्बर, 1938 को निराला ने कलकत्ता से श्री वाचस्पति पाठक को एक पत्र में लिखा था: "प्रूफ भी भेज रहा हूँ। पर 'राम की शक्तिपूजा' एक बार और देखूंगा"। [**साहित्य-साधना** (3)] पाठकजी भारती भण्डार से ही सम्बन्धित थे, जिससे यह समझा जा सकता है कि निराला ने यह पत्र उन्हें द्वितीय **अनामिका** के प्रकाशन के सम्बन्ध में ही लिखा था। प्रूफ उसी पुस्तक का था और 'राम की शक्तिपूजा' उसी पुस्तक में संकलित है। निष्कर्ष यह कि 1938 ई. की अन्तिम तिथि तक भी वह पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। निराला का एक दूसरा पत्र 25 मार्च, 1939 का आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के नाम लिखा हुआ है, जिसमें वे कहते हैं: "**तुलसीदास** और **अनामिका** निकल गयी।" (**निराला के पत्र**) इसका मतलब यह हुआ कि द्वितीय **अनामिका** का प्रकाशन-काल 1938 ई. का अन्त न होकर, 1939 ई. का आरम्भ है। 'तुलसीदास' नामक निराला की कविता 1934 ई. में रची गयी थी। 1935 ई. की 'सुधा' के अंकों

में वह क़िस्तवार निकली थी। वे कुछ और प्रबन्धात्मक कविताएँ लिखकर **गाथा** नाम से उनका एक स्वतन्त्र संग्रह निकालना चाहते थे। दुर्भाग्यवश चूँकि वैसी अधिक कविताएँ वे नहीं लिख सके, इसलिए 'राम की शक्तिपूजा' को द्वितीय **अनामिका** में सम्मिलित कर उन्होंने सिर्फ 'तुलसीदास' को स्वतन्त्र रूप में निकाला। जैसा कि 25 मार्च, 1939 को शास्त्रीजी को लिखे गये उनके पत्र से स्पष्ट है, **तुलसीदास** भी 1939 ई. के आरम्भ में ही बाहर आया, सम्भवत: द्वितीय **अनामिका** के बाहर आने के कुछ दिनों बाद। द्वितीय **अनामिका** की तरह ही **तुलसीदास** के प्रथम संस्करण में भी यह सूचना दी गयी है कि उसका प्रकाशन-काल संवत् 1995 (वि.) है।

प्रथम **अनामिका** में निराला की नौ कविताएं संकलित हुई थीं। बाद में जब **परिमल** निकला, तो उन्होंने उसमें दो को छोड़कर उसकी सात कविताएँ ले लीं। **परिमल** में उस काल की जो कविताएँ नहीं दी जा सकी थीं, उन्हें निराला ने द्वितीय **अनामिका** में डाल दिया। **तुलसीदास** के बारे में कहा जा चुका है कि उसकी रचना पहले हुई, पर पुस्तक रूप में उसका प्रकाशन द्वितीय **अनामिका** के बाद हुआ। **असंकलित कविताएँ** में विभिन्न कालों की रचनाएँ संकलित हैं। ऐसी स्थिति में **रचनावली** में पुस्तक-क्रम से निराला की कविताएँ दे सकना उलझन पैदा करनेवाला होता। लिहाजा यह उल्लेख करते हुए कि कौन कविता किस पुस्तक में संकलित हुई है, उन्हें रचना-क्रम से देने का प्रयास किया गया है।

खण्ड एक में संकलित निराला की सभी कविताओं की रचना-तिथि का पता लगाना प्राय: एक असम्भव काम है। कारण यह कि द्वितीय **अनामिका** को छोड़ दें, तो अन्य किसी भी पुस्तक की कविताओं के नीचे उन्होंने रचना-तिथि नहीं दी है। आज वे कापियाँ या डायरियाँ भी सुलभ नहीं हैं, जिनमें वे अपनी कविताएँ दर्ज किया करते थे। मजे की बात यह है कि द्वितीय **अनामिका** की अनेक कविताओं के नीचे उन्होने जो तिथि दी है, वह रचना-काल को सूचित न कर प्राय: पत्र-पत्रिकाओं में उनके प्रकाशन-काल को सूचित करती है। उदाहरण के लिए 'प्रलाप', 'अनुताप', 'यहीं', आदि कविताओं को देखा जा सकता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ है कि कविता पहले छप चुकी है और उसकी रचना-तिथि बाद ी दी गयी है। द्वितीय **अनामिका** में संकलित कविता 'क्या गाऊँ' के नीचे 1 सितम्बर, 1924 की तिथि दी गयी है, जब कि यह कविता 'कवीन्द्र' में उसके पहले ही छप चुकी थी। इन बातों को मद्देनजर रखते हुए यहां पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन-काल को प्रमुखता देनी पड़ी है और इस तरह कविताओं को रचना-क्रम से सजाने के स्थान पर प्रकाशन-क्रम से सजाना पड़ा है। प्रकाशन-क्रम निश्चय ही रचना-क्रम नहीं है, क्योंकि कविताओं के उनकी रचना के बाद क्रमहीन रूप में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने की पूरी सम्भावना है। कई बार तो कविताएँ पुस्तकों में संकलित हो जाने के बाद पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं। लेकिन सामान्यतया प्रकाशन-क्रम रचना-क्रम के निकट होता है। इसी भरोसे खण्ड एक की कविताओं को प्राय: प्रकाशन-क्रम से सजाया गया है। यहाँ एक कठिनाई यह भी है कि सारी-की-सारी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नहीं हुईं। जो

कविताएँ पुस्तकों में ही मिली हैं, उनके नीचे केवल यह सूचना दी गयी है कि वे किन पुस्तकों में संकलित हैं। इससे यह तो पता चल ही जाता है कि उनका रचना-काल पुस्तकों के प्रकाशन-काल के पहले पड़ता है। **गीतिका** के आधे से अधिक गीत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित मिल गये, लेकिन बाकी गीत नहीं मिले। जो गीत नहीं मिले, उनके नीचे केवल यह निर्दिष्ट कर दिया गया है कि वे **गीतिका** में संकलित हैं। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि वे **गीतिका** के प्रकाशन-काल (नवम्बर, 1936) के पहले रचे गये। इससे यह भी संकेत मिलता है कि सामान्यतया उनकी रचना **परिमल** के प्रकाशन-काल (सितम्बर, 1929) के बाद हुई होगी। निराला की जिन कविताओं को पत्र-पत्रिकाओं में नहीं ढूँढ़ा जा सका, निश्चय ही उनमें से अनेक कविताओं को भविष्य में शोधकर्त्ता ढूँढ़ निकालेंगे, जिससे उनके रचना-काल के सम्बन्ध में अधिक निश्चय के साथ कुछ कहा जा सकेगा।

निराला ने काव्य-रचना का आरम्भ कब किया, यह कहना मुश्किल है। लेकिन जब 1920 ई. में उनकी पहली कविता प्रकाशित हुई, तो यह स्पष्ट है कि उन्होंने कुछ वर्ष पहले से ही काव्य-रचना का अभ्यास शुरू कर दिया होगा। श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने लिखा है कि पहली बार सम्भवत: 1918 ई. में उन्नाव में निराला उनसे मिले थे। उन्होंने उस समय उन्हें एक स्वरचित छन्दोबद्ध कविता सुनायी थी। ('साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 11 फरवरी, 1962) इससे उक्त कथन की पुष्टि होती है। 'जुही की कली' निराला की पहली रचना है या नहीं, इस विषय पर डॉ. शर्मा ने **साहित्य-साधना (3)** की भूमिका में पर्याप्त प्रकाश डाला है। कारण-विशेष से निराला कुछ दिनों बाद अपनी काव्य-रचना के आरम्भ-काल को पीछे खिसकाने लगे थे। **अपरा** 1946 ई. में प्रकाशित हुई। कहा जाता है कि उसमें संकलित कविताओं के नीचे जो रचना-तिथि दी गयी है, वह स्वयं निराला के द्वारा। उसमें अनेक कविताओं का रचना-काल न केवल पीछे खिसकाया गया है, बल्कि अनेक कविताओं की रचना-तिथि गलत दी गयी है। उदाहरण के लिए **तुलसीदास** का जो अंश संकलित किया गया है, उसे 1938 ई. की रचना कहा गया है, जबकि सम्पूर्ण रूप में यह कविता 1935 ई. की 'सुधा' के अंकों में प्रकाशित हो चुकी थी। इसी तरह द्वितीय **अनामिका** में संकलित 'मरण-दृश्य' शीर्षक कविता जहाँ उसके अनुसार 5 जनवरी, 1938 की रचना है, वहाँ **अपरा** के अनुसार 1939 ई. की रचना। इस तरह की भूलें ढेर सारी हैं। ऐसी स्थिति में **अपरा** में दिये गये कविताओं के रचना-काल को सही मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है। निराला के एतद्सम्बन्धी कथनों में स्वभावत: अनेक असंगतियाँ हैं।

निराला के पहले चरण के काव्य में भी तीन स्तर हैं। उनका काव्य बहुत ही संश्लिष्ट है। वे एक स्तर पर अन्य स्तरों के काव्य की भी रचना करते हैं। इसके बाद भी किसी हद तक यह विभाजन सम्भव है। पहले चरण के पहले दौर में वे कई तरह की कविताएँ लिखते हैं, वस्तु की दृष्टि से भी और रूप की दृष्टि से भी। इस कारण उसमें बहुत अधिक विविधता है। इस दौर की अवधि मोटा-मोटी 1920 ई. से लेकर 1929 ई. के मध्य तक है। दूसरे दौर में निराला गीतों

की ओर मुड़ते हैं। पहले दौर के अन्त में ही वे मुख्य रूप से गीतों की रचना करने लगे थे और उनके गीत 'वाणी' शीर्षक से 'मतवाला' में निकलने लगे थे। इसका मतलब यह था कि उनकी योजना बाद में **वाणी** नाम से गीतों का संग्रह प्रकाशित कराने की थी। गीतों का वह संग्रह **गीतिका** नाम से निकला। **गीतिका** में वस्तुगत तथा रूपगत काफी विविधता है, तथापि उसकी सारी रचनाएँ कविता के एक रूप 'गीत' के अन्तर्गत ही आयेंगी। इस दौर की अवधि स्पष्टत: 1929 ई. के उत्तरार्ध से लेकर प्राय: 1936 ई. के मध्य तक है। दूसरे दौर की तरह तीसरे दौर की कड़ी भी पिछले दौर के भीतर से मुड़ती है। निराला का गीत-रचनावाला दौर अभी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ था, पर वे लम्बी कविताओं की ओर मुड़ चुके थे। 1934 ई. में उन्होंने **तुलसीदास** नामक अपनी लम्बी प्रबन्धात्मक कविता लिखी। उसके बाद इसी दौर में उन्होंने अपनी वे अमर कविताएँ लिखीं, जो उनके सम्पूर्ण काव्य-साहित्य में शिखरों के समान उठी हुई हैं—'मित्र के प्रति', 'सरोज-स्मृति', 'प्रेयसी', 'राम की शक्तिपूजा', 'सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति' और 'वन-बेला'। पहले चरण का यह अन्तिम दौर प्राय: 1938 ई. के सितम्बर तक चलता है।

इस खण्ड में निराला की कुछ ऐसी कविताएँ भी सम्मिलित की गयी हैं, जो 'मतवाला' में अनाम या छद्मनाम से निकली थीं। खड़ी बोली में लिखी गयीं ऐसी कविताएँ दो हैं—'गरीबों की पुकार' और 'देवि ! कौन वह ?' पहली कविता 'मतवाला' के 6 अक्तूबर, 1923 के अंक में निकली थी। उसके साथ उसके रचयिता का नाम नहीं दिया गया था। दूसरी कविता 'मतवाला' के 3 नवम्बर, 1923 के अंक में छपी थी। उसके साथ उसके रचयिता का नाम 'शोहर' दिया गया था। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री निराला के निकट के लेखकों में से हैं। उन्होंने अपनी पत्रिका 'बेला' (मुजफ्फरपुर) के पाँचवें अंक में 'गरीबों की पुकार' शीर्षक कविता फिर से छापी है और उसे निरालाकृत कहा है। डा. शर्मा ने **साहित्य-साधना (1)** में 'देवि ! कौन वह ?' शीर्षक कविता को निराला की ही रचना ठहराया है। उन्होंने लिखा है कि उक्त कविता छद्मनाम से इसलिए छपी थी कि 'जहाँ तीन से तेरह लेखकों का काम लेना है—यह दिखाने के लिए कि पत्र को बहुत लेखकों का सहयोग प्राप्त है---वहाँ छद्मनामों के बिना काम चल ही न सकता था।' (पृ. 70) इन दोनों बातों को साक्ष्य के रूप में स्वीकार कर ही इन दोनों कविताओं को निराला की रचना माना गया है। इस खण्ड में निराला की तीन ऐसी कविताएँ भी दी जा रही हैं, जो अब तक असंकलित थीं। ये कविताएँ हैं: 'कवि के प्रति', 'वेदना' और 'रेखा'। सम्भव है, ये कविताएँ निराला ने जानबूझकर छोड़ दी हों और सम्भव है, ये उनसे छूट गयी हों। हमारा खयाल है कि उनकी कुछ कविताएँ अभी भी पत्र-पत्रिकाओं में दबी हुई हैं। निराला-साहित्य पर शोध करनेवालों से यह अपेक्षा है कि वे उन्हें ऊपर करें।

निराला अपनी कविताओं में अन्त-अन्त तक संशोधन और सम्पादन करते रहते थे। इसके परिणामस्वरूप उनकी अनेक कविताओं के पाठ में अन्तर मिलता है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कविताओं का पाठ एक तरह का है और पुस्तकों

में संकलित कविताओं का पाठ दूसरी तरह का। 'मतवाला' में उनकी 'दिल्ली', 'प्रगल्भ प्रेम' और 'उद्‌बोधन' ('गा अपने संगीत' शीर्षक से) शीर्षक कविताएँ छपी थीं। ये तीनों ही कविताएँ द्वितीय **अनामिका** में संकलित हैं। 'मतवाला' में प्रकाशित इनके रूप से इन्हें मिलाकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निराला बाद में भी किस तरह अपनी कविताओं को संशोधन और सम्पादन के द्वारा बेहतर बनाने का प्रयास करते रहते थे। इस प्रयास में कविता कभी-कभी बिलकुल बदल जाती थी। इसका दिलचस्प उदाहरण उनकी 'कविता' शीर्षक कविता है। यह कविता 'मतवाला' के 10 नवम्बर, 1923 के अंक में 'उस पार' शीर्षक से निकली थी। बाद में निराला ने उसमें इतना परिवर्तन किया कि वह एक नयी कविता हो गयी और 'शृंगारमयी' शीर्षक से 'माधुरी' के 13 जनवरी, 1924 के अंक में प्रकाशित हुई। वह अब तक असंकलित थी। इस कविता के दोनों रूप संकलित कर दिये गये हैं, जिससे निराला की सृजन-प्रक्रिया के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश पड़ सके। उनकी कविताओं में पाठान्तर का एक कारण मुद्रण भी है। उनकी कविता-पुस्तकों के कई-कई संस्करण हो चुके हैं। इस क्रम में प्रूफरीडरों की असावधानी या 'अतिरिक्त सावधानी' के कारण अनेक कविताओं का पाठ बिगड़ता चला गया है। अतः कविताओं को कविता-पुस्तकों के प्रथम संस्करणों वा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके रूप से मिलाकर पाठ यथासम्भव ठीक कर दिया गया है। जहाँ निराला ने स्वयं पाठान्तर किया है, वहाँ उत्कृष्टतर पाठ को ही स्वीकार किया गया है, जो कि प्रायः परवर्ती पाठ है।

निराला खड़ी बोली के कवि थे, लेकिन कभी-कभी वे ब्रजभाषा और अवधी या दोनों के मिश्रण से तैयार की गयी भाषा में भी काव्य-रचना किया करते थे। उनकी ऐसी पाँच कविताएँ इस खण्ड के परिशिष्ट में दी गयी हैं। 'रक्षाबन्धन (1)' और 'कृष्ण-महातम' शीर्षक कविताएँ 'मतवाला' के क्रमशः 26 अगस्त और 1 सितम्बर, 1923 के अंकों में निकली थीं और उनका रचयिता 'पुराना महारथी' को बतलाया गया था। वस्तु और किसी हद तक शैली से भी यह संकेत मिलता है कि वे कविताएँ निराला द्वारा ही रचित हैं। यहाँ वे दोनों कविताएँ **असंकलित कविताएँ** से संकलित की गयी हैं। 'एक प्रशस्ति' शीर्षक कविता निराला ने श्री शिवपूजन सहाय को पत्र के साथ भेजी थी। वह यहाँ डा. शर्मा के ग्रन्थ **साहित्य-साधना** (3) से संकलित की गयी है। 'कालेज का बचुआ' निराला की खडी बोली में रची गयी कविता है, लेकिन चूँकि इसकी प्रकृति खण्ड एक की कविताओं से भिन्न है, इसलिए इसे भी परिशिष्ट में ही दिया गया है। इसी में निराला की वे कविताएँ भी दी गयी हैं, जो रजनी सेन, विवेकानन्द, चण्डिदास, गोविन्ददास या रवीन्द्रनाथ की बंगला-कविताओं का अनुवाद हैं या उनका आधार लेकर रची गयी हैं। रवीन्द्रनाथ की कविताओं के 'अनुवाद' के बारे में दो शब्द कहना जरूरी है, क्योंकि उसी को लेकर निराला पर आफत आयी थी। उन्हें सम्पूर्ण हिन्दी-संसार में यह कहकर बदनाम किया गया था कि वे रवीन्द्रनाथ की कविताओं का अनुवाद अपनी मौलिक कविताएँ कहकर छपवाते हैं। अन्ततः 'मतवाला'-मण्डल की दृष्टि में भी वे गिर गये थे और करीब वर्ष-भर के लिए 'मतवाला' में उनकी कविताओं का

छपना बन्द हो गया था। निराला को 'अनूदित' कविताओं के साथ मूल कवि का नाम देना चाहिए था, लेकिन यह ज्ञातव्य है कि उन्होंने रवीन्द्रनाथ की कविताओं का भाषान्तर नहीं किया है, बल्कि उन्हें अपने हिसाब से फिर से रचा है। प्रसिद्ध है कि चेखव तोलस्तोय की कहानियों का पुनर्लेखन किया करते थे। निराला ने रवीन्द्रनाथ की कविताओं को 'क्लासिकल' गम्भीरता और सौन्दर्य प्रदान कर दिया है; चित्र को मूर्ति में बदल दिया है। इस दृष्टि से वे जितनी रवीन्द्रनाथ की कविताएँ हैं, उतनी ही निराला की भी। परिशिष्ट के अन्त में इस खण्ड में जिन कविता-पुस्तकों की कविताएँ समाविष्ट हैं, उनकी भूमिकाएँ और समर्पण भी दे दिये गये हैं।

इस खण्ड में संकलित निराला की कविताओं पर विस्तार में जाकर आलोचनात्मक टिप्पणी करना आवश्यक नहीं है। निराला मूलतः स्वच्छन्दतावादी कवि थे, इसलिए स्वभावतः उनकी कविताओं में हमें आत्मस्वीकृति और आत्माभिव्यक्ति मिलती है। लेकिन यह उनकी कविताओं का एक पक्ष है। वे आरम्भ से ही सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते आ रहे थे। उनकी यह प्रवृत्ति उनमें क्रमशः दृढ़तर होती गयी है। उन्हें हिन्दी में दार्शनिक कवि के रूप में प्रचारित किया गया था, जिसका मतलब यह था कि वे अपनी कविताओं में केवल वेदान्त का भाष्य प्रस्तुत किया करते हैं। निराला की इस खण्ड में संकलित कविताओं में वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट है, तथापि वास्तविकता यह है कि उनका असली झुकाव 'चित्रण' की ओर था, 'वक्तव्य' की ओर नहीं। इन्हीं कविताओं में वे छायावाद में मिलनेवाले मिथक और यथार्थ के बीच के अन्तर्विरोध को गहरा बनाते हैं और उसे यथार्थ की भूमि पर हल करने का संकेत देते हैं। इस खण्ड का सम्पादन हमारे लिए इस कारण एक स्फूर्ति से भरा हुआ अनुभव रहा है कि हमने आधुनिक भारत के एक अत्यन्त श्रेष्ठ कवि को क्रमशः निर्मित और विकसित होते देखा है। व्यक्ति और परिवेश के द्वन्द्व से कैसे निराला की काव्य-चेतना यथार्थ के वास्तविक रूप को पहचानने में समर्थ होती गयी है, यह इस खण्ड की कविताओं का सावधानी से अध्ययन करनेवाला कोई भी पाठक देख सकेगा।

नन्दकिशोर नवल

रानीघाट लेन, महेन्द्रू,
पटना-800006
9 मार्च, 1982

R
०८१
सिद्द२नि.१

72792

अनुक्रम

पहला दौर

जन्मभूमि	29
अध्यात्म-फल	30
जुही की कली	31
माया	32
विरहिणी पर व्यंग	33
तुम हमारे हो	34
अधिवास	35
प्रकाश	36
तुम और मैं	37
पंचवटी-प्रसंग : 1	38
पंचवटी-प्रसंग : 2	41
पंचवटी-प्रसंग : 3	44
पंचवटी-प्रसंग : 4	46
पंचवटी-प्रसंग : 5	49
सच्चा प्यार	51
लज्जिता	53
जलद के प्रति	53
रक्षा-बन्धन (2)	54
गये रूप पहचान	55
नयन	56
चुम्बन	57
गरीबों की पुकार	57
उसकी स्मृति	58
कविप्रिया	59
विधवा	60
पहचाना	61
देवि ! कौन वह ?	62
कविता	63
भिक्षुक	64
सन्ध्या-सुन्दरी	65
पथ	66
शरत्पूर्णिमा की बिदाई	67
खँडहर के प्रति	68
अंजलि	70
हूँ दूर	71
धारा	71
आवाहन	73
वन-कुसुमों की शय्या	74
शृङ्गारमयी	76
प्रलाप	[illegible]
रास्ते के फूल से	[illegible]
अनुताप	[illegible]
शंकिता	[illegible]
यहीं	[illegible]
स्वप्न-स्मृति	[illegible]
वीणावादिनी	[illegible]
बहू	[illegible]
विफल-वासना	[illegible]
प्रिया से	[illegible]
दिल्ली	[illegible]
प्रगल्भ-प्रेम	90
उद्बोधन	92
खोज और उपहार	93
तरंगों के प्रति	94
क्या दूँ ?	95
क्या गाऊँ ?	96
प्रपात के प्रति	96
प्रथम प्रभात	97
सिर्फ़ एक उन्माद	98
जागी	98
सन्तप्त	99
भर देते हो	100
आदान-प्रदान	101
कण	101
यमुना के प्रति	102
ध्वनि	114

आग्रह 115
बादल-राग : 1 116
बादल-राग : 2 116
बादल-राग : 3 117
स्वागत 118
स्वाधीनता पर [1] 119
स्वाधीनता पर [2] 120
बादल-राग : 4 121
बादल-राग : 5 122
बादल-राग : 6 123
दीन 124
'कवि' के प्रति 125
प्याला 126
नारायण मिलें हँस अन्त में 127
स्मृति 128
जागृति में सुप्ति थी 132
शेफालिका 133
अमृत में गरल 133
पतनोन्मुख 134
प्रार्थना 135
निवेदन 135
जागो फिर एक बार : 1 136
पारस 138
वृत्ति 139
बदला 140
जागो फिर एक बार : 2 141
परलोक 143
शेष 143
वेदना 144
महाराज शिवाजी का पत्र 145
मौन 159
रेखा (यौवन के तीर पर···) 159
रेखा (विपुल निर्जनता का···) 164
रेखा (रेखा जीवन की !—) 167
हताश 169
नेत्र 170
प्रतिध्वनि 171
जागरण 171
प्रभाती 175
'सरोज' के प्रति 175
विस्मृत भोर 176
वासन्ती 177
वसन्त-समीर 180
स्मृति-चुम्बन 182
प्रार्थना 185
गीत (दूत, अलि, ऋतुपति के आये) 185
गीत (निशा के उर की खुली कली) 186
गीत (अलि, घिर आये घन पावस के) 186
गीत (हमें जाना है जग के पार) 187
खेवा 188
युक्ति 189
प्रिया के प्रति 190
भ्रमर-गीत 191
कवि 191

दूसरा दौर

बह चली अब अलि, शिशिर-समीर ! 197
सोचती अपलक आप खड़ी 197
छोड़ दो, जीवन यों न मलो 198
मेरे प्राणों में आओ ! 199
याद रखना, इतनी ही बात 200
पास ही रे, हीरे की खान 201
कहाँ उन नयनों की मुसकान 202
प्यार करती हूँ अलि 203
नयनों में हेर प्रिये 204
कल्पना के कानन की रानी ! 204
वह रूप जगा उर में 205
स्पर्श से लाज लगी 206
दृगों की कलियाँ नवल खुलीं 206
कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना ? 207
स्नेह की सरिता के तट पर 208
मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ? 208
नव-जीवन के स्वार्थ सकल 209
मन चंचल न करो ! 210
वर दे, वीणावादिनि वरदे ! 210
प्रेम के प्रति 211

जग का एक देखा तार	212	खुलती मेरी शेफाली	236
नयनों के डोरे लाल गुलाल-भरे	212	मैं रहूँगा न	237
रूखी री यह डाल	213	लाज लगे तो	238
खोलो दृगों के द्वय द्वार	214	(प्रिय) यामिनी जागी	238
आओ मेरे आतुर उर पर	214	सखि, वसन्त आया	239
तुम छोड़ गये द्वार	215	मौन रही हार	240
मेघ के घन केश	216	कौन तम के पार ?	240
रे अपलक मन !	216	बादल में आये जीवन-धन	241
चाहते हो किसको सुन्दर ?	217	जागो, जीवन-धनिके !	242
चहकते नयनों में जो प्राण	218	लिखती, सब कहते	242
विश्व-नभ-पलकों का आलोक	218	एक ही आशा में	243
रहा तेरा ध्यान	219	धन्य कर दे माँ	244
खिला सकल जीवन, कल मन	220	जला दे जीर्ण-शीर्ण प्राचीन	244
रँग गयी पग-पग धन्य धरा	220	अपने सुख-स्वप्न से खिली	245
अमरण भर वरण-गान	221	कब से मैं पथ देख रही	245
बह जाता रे, परिमल-मन	222	देख दिव्य छवि लोचन हारे	246
बैठ देखी वह छबि सब दिन	222	प्रतिक्षण मेरा मोह-मलिन मन	247
पावन करो नयन !	223	तुम्हीं गाती हो	247
रे, कुछ न हुआ, तो क्या ?	223	जीवन की तरी खोल दे रे	248
सकल गुणों की खान, प्राण तुम	224	वे गये असह दुख भर	249
अनगिनित आ गये शरण में	224	कितने बार पुकारा	249
सरि, धीरे बह री !	225	छिपा मन	250
आओ मधुर-सरण मानसि, मन	226	तुम्हें ही चाहा	251
तुम्हारे सुन्दरि, कर सुन्दर	226	चाल ऐसी मत चलो !	251
शरत् के प्रति	227	बहती निराधार	252
प्राण-धन को स्मरण करते	227	फूटो फिर	253
गयी निशा वह, हँसीं दिशाएँ	228	टूटें सकल बन्ध	253
मार दी तुझे पिचकारी	228	भावना रँग दी तुमने	254
दे, मैं करूँ वरण	229	तपा जब यौवन का दिनकर	255
सार्थक करो प्राण	229	डूबा रवि अस्ताचल	255
निशि-दिन तन	230	विश्व की ही वाणी प्राचीन	256
घन, गर्जन से भर दो वन	230	शत शत वर्षों का मग	257
बुझे तृष्णाशा विषानल झरे	231	विश्व के वारिद-जीवन में	257
अस्ताचल रवि	231	छन्द की बाढ़	258
भारति, जय, विजयकरे !	232	जागा दिशा-ज्ञान	259
बन्दूँ पद सुन्दर तव	233	खुल गया रे	259
घोर शिशिर	233	कहाँ परित्राण ?	260
नयनों का नयनों से बन्धन	234	वर्ण-चमत्कार	261
हुआ प्रात, प्रियतम	235	प्रात तव द्वार पर	261
कैसी बजी बीन	235	रही आज मन में	262
वह कितना सुख	236	देकर अन्तिम कर	262

गर्जित-जीवन झरना 263

तीसरा दौर

तुलसीदास 267
दान 289
मित्र के प्रति 291
सच है 295
सरोज-स्मृति 296
प्रेयसी 305
राम की शक्ति-पूजा 310
सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति 319
कविता के प्रति 321
तोड़ती पत्थर 323
आवेदन 324
विनय 325
उत्साह 325
वन-बेला 326
हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र 331
उक्ति 332
ठूंठ 332
सेवा-प्रारम्भ 333
मरण-दृश्य 339
मुक्ति 340
खुला आसमान 340
प्राप्ति 341
अपराजिता 342
वसन्त की परी के प्रति 342
वे किसान की नयी बहू की आँखें 343
नर्गिस 343
नासमझी 345
उक्ति 345
सहज 346
और और छबि 346
मेरी छबि ला दो 347
वारिद-वन्दना 347
गीत (जैसे हम हैं वैसे ही रहें) 348
गर्वोक्ति 349

परिशिष्ट

मौलिक कविताएँ

रक्षा-बन्धन (1) 355
कृष्ण-महातम ! 355
एक प्रशस्ति 356
कालेज का बचुआ 356
निरालाजी का उत्तर 357
गीत (किहि तन पिय-मन धारों ?—री कहु) 358
दाल का गीत 359

अनूदित कविताएँ

तुम 363
गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को 363
तट पर 368
समाधि 370
नाचे उस पर श्यामा 370
ज्येष्ठ 376
कहाँ देश है 377
क्षमा प्रार्थना 378
सखा के प्रति 380
पद-1 (क) 382
पद-1 (ख) 383
कवि गोविन्ददास की कुछ कविता 383
सागर के वक्ष पर 393
शिव-संगीत-2 394

भूमिकाएँ और समर्पण

1. प्रथम **अनामिका** का समर्पण 397
2. **परिमल** की भूमिका 398
3. **गीतिका** का समर्पण 407
4. **गीतिका** की भूमिका 416
5. द्वितीय **अनामिका** का समर्पण 417
6. द्वितीय **अनामिका** की भूमिका 417
7. **तुलसीदास** का समर्पण 418

कविताएँ

(1920—1938)

पहला दौर

जन्मभूमि
(डी. एल. राय का स्वर)

बन्दूँ मैं अमल कमल,—
चिरसेवित चरण युगल—
शोभामय शान्तिनिलय पाप ताप हारी,
मुक्त बन्ध, घनानन्द मुदमंगलकारी ।।
वधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी ।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ।। 1 ।।

मुकुट शुभ्र हिमागार ।
हृदय बीच विमल हार—
पंचसिन्धु ब्रह्मपुत्र रवितनया गंगा ।
विन्ध्य विपिन राजे घन घेरि युगल जंघा ।।
वधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी ।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ।। 2 ।।

त्रिदश कोटि नर समाज,
मधुर-कण्ठ-मुखर आज ।।
चपल चरणभंग नाच तारागण सूर्यचन्द्र ।
चूम चरण ताल मार गरज जलधि मधुर मन्द्र ।।
वधिर विश्व चकित भीत सुन भैरव वाणी ।
जन्मभूमि मेरी है जगन्महारानी ।। 3 ।।

['प्रभा', मासिक, कानपुर, 1 जून, 1920 । **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

अध्यात्म-फल

जब कड़ी मारें पड़ीं, दिल हिल गया,
पर न कर चूँ भी कभी पाया यहाँ,
मुक्ति की तब युक्ति से मिल खिल गया
भाव, जिसका चाव है छाया यहाँ।

खेत में पड़ भाव की जड़ गड़ गयी,
धीर ने दुख-नीर से सींचा सदा,
सफलता की थी लता आशामयी,
झूलते थे फूल,—भावी सम्पदा!

दीन का तो हीन ही यह वक्त है,
रंग करता भंग जो सुख-संग का
भेद से कर छेद पीता रक्त है
राज के सुख-साज-सौरभ-अंग का।

काल की ही चाल से मुरझा गये
फूल, हूलें शूल जो दुख मूल में
एक ही फल, किन्तु हम बल पा गये,
प्राण है वह, त्राण सिन्धु अकूल में।

मिष्ट है, पर इष्ट उनका है नहीं
शिष्ट पर न अभीष्ट जिनका नेक है,
स्वाद का अपवाद कर भरते मही,
पर सरस वह नीति-रस का एक है।

['प्रभा', मासिक, कानपुर, 1 नवम्बर, 1921 ('अध्यात्म-पुरुष' शीर्षक से)। पहले प्रथम **अनामिका** में, फिर **परिमल** में संकलित]

जुही की कली

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल—पत्राङ्क में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आयी याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आयी याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आयी याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ।
सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक के चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिण्डोल।
इस पर भी जागी नहीं,
चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल;
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज-पास,

नम्रमुख हँसी---खिली,
खेल रंग, प्यारे संग।

['आदर्श', मासिक, कलकत्ता, मार्गशीर्ष, संवत् 1979 वि. (नवम्बर-दिसम्बर, 1922)। पहले प्रथम **अनामिका** में, फिर **परिमल** में संकलित]

माया

तू किसी के चित्त की है कालिमा
या किसी कमनीय की कमनीयता ?
या किसी दुखदीन की है आह तू
या किसी तरु की तरुण वनिता-लता ?

तू किसी भूले हुए की भ्रान्ति है
शान्ति-पथ पर या किसी की गम्यता ?
शीत की नीरस निठुर तू यामिनी
या वसन्त-विभावरी की रम्यता ?

यक्ष विरही की कठिन विरह-व्यथा
या कि तू दुष्यन्त-कान्त शकुन्तला ?
या कि कौशिक-मोह की तू मेनका
या कि चित्त-चकोर की तू विधु-कला ?

तू किसी वन की विषम विष-वल्लरी
या कि मन्द समीर गन्ध-विनोद की ?
या कि विधवा की करुण चिन्ता-चिता
बालिका तू या कि मा की गोद की ?

सुप्त सुख की सेज पर सोती हुई
हो रही है भैरवी तू नागिनी
या किसी व्याकुल विदेशी के लिए
बज रही है तू इमन की रागिनी ?

या किसी जन जीर्ण के सम्मुख खड़ी
है निकट बीभत्स की कटु - मूर्ति तू
या कि कोमल-बाल-कवि-कर-कञ्ज से
हो रही शृङ्गार-रस की स्फूर्ति तू ?

या सताती कुमुदिनी को तू अरी
है निरी पैनी छुरी रवि की छटा
तू मयूरों के लिए उन्मादिनी
या कि है सावन - गगन की घन-घटा ?

या कहीं सुन्दर प्रकृति बन-सँवरकर
नृत्य करती नायिका तू चञ्चला,
या कहीं लज्जावती क्षिति के लिए
हो रही सरिता मनोहर मेखला ?

या कि भव-रण-रङ्ग से भागे हुए
कायरों के चित्त की तू भीति है
या कि विजयोल्लास के प्रति शब्द में
तू विजेता की विजय की प्रीति है ?

सृष्टि के अन्त:करण में तू बसी
है किसी के भोग-भ्रम की साधना,
या कि लेकर सिद्धि तू आगे खड़ी
त्यागियों के त्याग की आराधना ?

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर पौष, संवत् 1979 वि. (दिसम्बर, 1922 —जनवरी, 1923)। पहले प्रथम **अनामिका** में, फिर **परिमल** में संकलित]

विरहिणी पर व्यंग
(घनाक्षरी)

हार मन मार मार की बहू ललाट ठोंक
काजल बहा कपोल कुत्सित किया करें।
अंचल ? लजी मशालची की लालटेन काली
नेत्र जल से प्रबल नासिका सदा झरे।

कल्पना ललाम की लगाम थाम कविदल
मुख तुलना न कभी चन्द्र के बिना करे।
चाँद आइने में चारु चित्र देख चुप वह
तकिया सहारे पड़ी तारे ही गिना करे।

['आदर्श', मासिक, कलकत्ता, पौष और माघ, संवत् 1979 वि. (दिसम्बर, 1922—जनवरी, 1923 और जनवरी, 1923—फरवरी, 1923)। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

तुम हमारे हो

नहीं मालूम क्यों यहाँ आया
ठोकरें खाते हुए दिन बीते।
उठा तो पर न सँभलने पाया
गिरा व रह गया आँसू पीते॥ 1 ॥

ताब बेताब हुई हठ भी हटी
नाम अभिमान का भी छोड़ दिया।
देखा तो थी माया की डोर कटी
सुना व' कहते हैं, हाँ खूब किया॥ 2 ॥

पर अहो पास छोड़ आते ही
वह सब भूत फिर सवार हुए।
मुझे गफलत में ज़रा पाते ही
फिर वही पहले के से वार हुए॥ 3 ॥

एक भी हाथ सँभाला न गया
और कमज़ोरों का बस क्या है।
कहा—न्र्दिय, कहाँ है तेरी दया,
मुझे दुख देने में जस क्या है॥ 4 ॥

रात को सोते य' सपना देखा,
कि व' कहते हैं "तुम हमारे हो।

भला अब तो मुझे अपना देखा,
कौन कहता है कि तुम हारे हो ।। 5 ।।

अब अगर कोई भी सताये तुम्हें
तो मेरी याद वहीं कर लेना।
नज़र क्यों काल ही न आये तुम्हें
प्रेम के भाव तुर्त भर लेना" ।। 6 ।।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर फाल्गुन, संवत् 1979 वि. (फरवरी-मार्च, 1923)। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

अधिवास

कहाँ—
मेरा अधिवास कहाँ ?

क्या कहा ?—रुकती है गति जहाँ ?
भला इस गति का शेष
सम्भव है क्या,
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश ?

मैंने 'मैं' - शैली अपनायी,
देखा दुखी एक निज भाई।
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आयी।

उसके निकट गया मैं धाय,
लगाया उसे गले से हाय !
फँसा माया में हूँ निरुपाय,
कहो, कैसे फिर गति रुक जाय ?

उसकी अश्रु-भरी आँखों पर मेरे करुणाञ्चल का स्पर्श
करता मेरी प्रगति अनन्त, किन्तु तो भी मैं नहीं विमर्ष;

छूटता है यद्यपि अधिवास,
किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, 23 अप्रैल, 1923। पहले प्रथम **अनामिका** में, फिर **परिमल** में संकलित]

प्रकाश

रोक रहे हो जिन्हें
नहीं अनुराग—मूर्ति वे
किसी कृष्ण के उर की गीता अनुपम ?

और लगाना गले उन्हें
जो धूल-धूसरित खड़े हुए हैं—
कबसे प्रियतम, है भ्रम ?

हुई दुई में अगर कहीं पहचान
तो रस भी क्या—
अपने ही हित का गया न जब अनुमान ?

है चेतन का आभास
जिसे, देखा भी उसने कभी किसी को दास ?

नहीं चाहिए ज्ञान
जिसे, वह समझा कभी प्रकाश ?

[रचनाकाल : 6 जून, 1923। 'मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 22 सितम्बर, 1923, में प्रकाशित ('दिव्य प्रकाश' शीर्षक से)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

तुम और मैं

तुम तुंग - हिमालय - शृंग
और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास
और मैं कान्त-कामिनी-कविता।
तुम प्रेम और मैं शान्ति,
तुम सुरा-पान-घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।
तुम दिनकर के खर किरण-जाल,
मैं सरसिज की मुस्कान,
तुम वर्षों के बीते वियोग,
मैं हूँ पिछली पहचान।
तुम योग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि,
तुम मृदु मानस के भाव
और मैं मनोरंजिनी भाषा,
तुम नन्दन - नव - घन विटप
और मैं सुख-शीतल-तल शाखा।
तुम प्राण और मैं काया,
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म
मैं मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कण्ठहार,
मैं वेणी काल - नागिनी,
तुम कर - पल्लव - झंकृत सितार,
मैं व्याकुल विरह - रागिनी।
तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं उन अधरों की वेणु।
तुम पथिक दूर के श्रान्त
और मैं बाट - जोहती आशा,
तुम भवसागर दुस्तर
पार जाने की मैं अभिलाषा।

तुम नभ हो, मैं नीलिमा,
तुम शरत् - काल के बाल-इन्दु
मैं हूँ निशीथ - मधुरिमा।
तुम गन्ध-कुसुम-कोमल पराग,
मैं मृदुगति मलय - समीर,
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष,
मैं प्रकृति, प्रेम - जंजीर।
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल - गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति।
तुम आशा के मधुमास,
और मैं पिक-कल-कूजन तान,
तुम मदन - पंच - शर - हस्त
और मैं हूँ मुग्धा अनजान!
तुम अम्बर, मैं दिग्वसना,
तुम चित्रकार, घन-पटल-श्याम,
मैं तड़ित् तूलिका रचना।
तुम रण-ताण्डव-उन्माद नृत्य
मैं मुखर मधुर नूपुर-ध्वनि,
तुम नाद - वेद ओंकार - सार,
मैं कवि - श्रृंगार शिरोमणि।
तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुन्द-इन्दु - अरविन्द - शुभ्र
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, 20 जुलाई, 1923। पहले प्रथम **अनामिका** में, फिर **परिमल** में संकलित]

पंचवटी-प्रसंग : 1

सीता—आती है याद उस दिन की
प्रियतम!
जिस दिन हमारी पुष्प-वाटिका में
पुष्पराज!

बाल-रवि-किरणों से हँसते नव नीलोत्पल !
साथ लिये लाल को
घूमते समोद थे नयन-मनोरम तुम ।
उससे भी सुन्दर क्या नहीं यह दृश्य नाथ ?
वहाँ की वह लता-कुंज मञ्जु थी
या यहाँ उस विटप विशाल पर
फैली हुई मालती का शीतल तल सुन्दर है ?
मैं तो सोचती हूँ, वहाँ बन्दिनी थी
और यहाँ खेलती हूँ मुक्त खेल,
साथ हो तुम,
और कहाँ इतना सुअवसर मुझे मिल सकता है ?
और कहाँ पास बैठ देखती मैं
चञ्चल तरंगिणी की तरल तरंगों पर
सुर-ललनाओं के चारु चरण—चपल नृत्य ?
और कहाँ सुनती मैं
सुखद समीरण में विहग-कल-कूजन-ध्वनि—
पत्रों के मर्मर में मधुर गन्धर्वगान ?
और कहाँ पाती मैं
निर्मल-विवेक-ज्ञान-भक्ति-दीप्ति
आश्रम-तपोवन छोड़ ?
राम—छोटे-से घर की लघु सीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव,
यह सच है प्रिय,
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर ।
प्रेम की महोर्मि-माला तोड़ देती क्षुद्र ठाट,
जिसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण-सम बह जाते हैं ।
हाथ मलते भोगी,
धड़कते हैं कलेजे उन कायरों के,
सुन-सुन प्रेम-सिन्धु का
सर्वस्व-त्याग-गर्जन-घन ।
अट्टहास हँसता प्रेम-पारावार
देख भय-कातर की दृष्टि में
प्रार्थना की मलिन रेखा,
तट पर चुपचाप खड़ा

हाथ जोड़ मोह-मुग्ध
डरता है गोते लगाते प्रेम-सागर में,
जीवनाशा पैदा करती है सन्देह
जिससे सिकुड़ जाता सारा अंग,
याद कर प्रेम-वाड़वाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला,
फेरता है पीठ वह,
दिव्य देहधारी ही कूदते हैं इसमें प्रिये,
पाते हैं प्रेमामृत,
पीकर अमर होते हैं।
मैं भी, सच कहता हूँ, मुनियों में
पाता हूँ जैसा अपूर्व प्रेम
वैसा कभी आज तलक कहीं नहीं पाया है।
राजभवन राजस-प्रभाव-भरे
रम्योद्यान से भी मुझे
बढ़कर प्रतीत होती
वनस्थली चारुचित्रा।

सीता—भूलती नहीं हैं एक क्षण भी अनसूया देवी।
चलने लगी मैं जब पैरों पड़ी,
स्नेह से उठाकर मुझे—
अहा, वह सुखद स्पर्श—
कहने लगीं—'सीता, तू जानती है
क्या हैं सतियों के गुण तो भी कहूँ।'
सादर समझाये सतियों के गुण सारे मुझे,
गोद में बिठाके, वह कैसा प्यार—निश्छल,
निष्काम—नहीं भूलता है एक क्षण।

राम—मुझे भी भरत की याद प्रिये, सदा आती है।

सीता—अहा, वह भक्ति-भाव-भूषित मुख विनय-नम्र !

(लक्ष्मण का प्रवेश)

लक्ष्मण—अर्चना के लिए आर्य !
विल्वदल-गन्ध-पुष्प-मालाएं
रक्खी हैं कुटीर में, देर हुई।

राम—हाँ लाल, चलते हैं।

सीता—और लाल मेरे, लाओ फूल मालती के,
गूँथकर माला स्वयं
सती-शिरोरत्न के

पद-युगल-कमलों में
अर्पण करूँगी मैं।

(लक्ष्मण का प्रस्थान)

कितना सुबोध है !
आज्ञा-पालन के सिवा कुछ भी नहीं जानता,
आता है सामने तो झुका सिर
दृष्टि चरणों की ओर रखता है,
कहता है बालक-इव, क्या है आदेश माता ?
राम—पाये हैं इसने गुण सारे मा सुमित्रा के;
वैसा ही सेवाभाव, वैसा ही आत्मत्याग,
वैसी ही सरलता, वैसी पवित्र कान्ति।
त्रुटि पर ज्यों बिजली-सी टूटती सुमित्रा मा,
शत्रु पर त्यों सिंह-सा झपटता है लखनलाल,
देखा नहीं कोप इसका परशुधर प्रसंग में ?
अथवा वन-गमन-समय ?
किंवा जब आये भरत चित्रकूट पर्वत पर ?
कितनी भक्ति मुझ पर है
यह तो जानती ही हो।

पंचवटी-प्रसंग : 2

लक्ष्मण—जीवन का एक ही अवलम्ब है सेवा;
है माता का आदेश यही,
मा की प्रीति के लिए ही चुनता हूँ सुमन-दल,
इसके सिवा कुछ भी नहीं जानता—
जानने की इच्छा भी नहीं है कुछ।
माता की चरण-रेणु मेरी परम शक्ति है—
माता की तृप्ति मेरे लिए अष्ट सिद्धियाँ—
माता के स्नेह-शब्द मेरे सुख-साधन हैं।
धन्य हूँ मैं;
जिनके कटाक्ष से करोड़ों शिव-विष्णु-अज
कोटि-कोटि सूर्य—चन्द्र-तारा-ग्रह
कोटि-इन्द्र-सुरासुर—

जड़-चेतन मिले हुए जीव-जग
बनते-पलते हैं,—नष्ट होते हैं अन्त में—
सारे ब्रह्माण्ड के जो मूल में विराजती हैं
आदि-शक्ति-रूपिणी,
शक्ति से, जिनकी शक्तिशालियों में सत्ता है—
माता हैं मेरी वे।
जिनके गुण गाकर भवसिन्धु पार करते नर,
प्रणव से लेकर प्रतिमन्त्र के अर्थ में
जिनके अस्तित्व की ही
दीखती है दृढ़ छाप
माता हैं मेरी वे।
नारियों की महिमा—सतियों की गुण-गरिमा में
जिनके समान जिन्हें छोड़ कोई और नहीं,
माता हैं मेरी वे।
सलिल-प्रवाह में ज्यों बहता शैवाल-जाल
गृह-हीन, लक्ष्य-हीन, यन्त्र-तुल्य,
किन्तु परमात्मा की प्रेममयी प्रेरणा से
मिलता है अन्त में असीम महासागर से
हृदय खोल—मुक्त होता,
मैं भी त्यों त्यागकर सुखाशाएँ,—
घर-द्वार—धन-जन,
बहता हूँ माता के चरणामृत-सागर में,
मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे, काफी है।
सुधाधर की कला में अंशु यदि बनकर रहूँ,
तो अधिक आनन्द है;
अथवा यदि होकर चकोर कुमुद नैश गन्ध
पीता रहूँ सुधा इन्दु-सिन्धु से बरसती हुई,
तो सुख मुझे अधिक होगा?
इसमें सन्देह नहीं,
आनन्द बन जाना हेय है,
श्रेयस्कर आनन्द पाना है,
मानस-सरोवर के स्वच्छ वारि-कण-समूह
दिनकर-कर-स्पर्श से
सूक्ष्माकार होते जब—
धरते अव्यक्त रूप
कुछ काल के लिए नील नभोमण्डल में

लीन-से हो जाते हैं—गाते अव्यक्त राग,
किन्तु क्या आनन्द उन्हें मिलता है, वे जानें !
इधर तो यह स्पष्ट है कि
वही जब पाते हैं जलद-रूप—
प्रगति की फिर से जब सूचना दिखाते हैं,—
जीवन का बालकाण्ड शुरू होता,—
क्रीड़ा से कितने ही रंग वे बदलते हैं
शिखर पर,—व्योम-पथ में,
नाचते-थिरकते हैं,—किलकते,—गीत गाते हैं,—
कोमल कपोल श्याम चूमता जब मन्द मलय,—
भर जाता हृदय आनन्द से—
बूंदों से सींचती उच्छ्वास-सलिल
मानस-सरोवर-वृक्ष,—स्मरण कर पूर्व-कथा,
देखकर कौतुक तब खिले हुए कमल कुल
गले डाल लेते हैं मोतियों की माला एक
मन्द मुस्किराते हुए।
अतएव ईश्वर से सदा ही मैं मनाता हूँ,
'परमात्मन्, मनस्काम-कल्पतरु तुम्हें लोग कहते हैं,
पूरे करते हो तुम सबके मनोभिलाष,
यदि प्रभो, मुझ पर सन्तुष्ट हो,
तो यही वर मैं माँगता हूँ,
माता की तृप्ति पर
बलि हो शरीर-मन
मेरा सर्वस्व-सार;
तुच्छ वासनाओं का
विसर्जन मैं कर सकूं;
कामना रहे, तो एक
भक्ति की बनी रहे।'
चलूं अब, चुन लिये प्रसून,
बड़ी देर हुई।

पंचवटी-प्रसंग : 3

शूर्पनखा—देव-दानवों ने मिल
मथकर समन्दर को निकाले थे चौदह रत्न;
सुनती हूँ,—
रम्भा और रमा ये दो नारियाँ भी निकली थीं,
कहते लोग, सुन्दरी हैं;
किन्तु मुझे जान पड़ता,—
सृष्टि-भर की सुन्दर प्रकृति का सौन्दर्य-भाग
खींचकर विधाता ने भरा है इस अंग में,—
प्यार से—
अन्यथा उस बूढ़े विधि शिल्पी की
कँपती हुई अँगुलियाँ बिगाड़ देतीं चित्र यह—
धूल में मिल जाती चतुराई चित्रकार की;
और यह भी सत्य है कि
ऐसी ललाम वामा चित्रित न होगी कभी;
रानी हूँ,
प्रकृति मेरी अनुचरी है;
प्रकृति की सारी सौन्दर्य-राशि लज्जा से
सिर झुका लेती जब देखती है मेरा रूप—
वायु के झकोरे से वन की लताएँ सब
झुक जातीं,—नजर बचाती हैं,—
अञ्चल से मानो छिपाती मुख
देख यह अनुपम स्वरूप मेरा।
बीच-बीच पुष्प गुँथे किन्तु तो भी बन्ध-हीन
लहराते केश-जाल, जलद-श्याम से क्या कभी
समता कर सकती है
नील-नभ तड़ित्तारकाओं का चित्र ले
क्षिप्रगति चलती अभिसारिका यह गोदावरी?—
हरगिज नहीं।
कवियों की कल्पना तो
देखती ये भौंएँ बालिका-सी खड़ी—
छूटते हैं जिनसे आदिरस के सम्मोहन-शर
वशीकरण-मारण-उच्चाटन भी कभी-कभी।
हारे हैं सारे नेत्र नेत्रों को हेर-हेर—

विश्व-भर को मदोन्मत्त करने की मादकता
भरी है विधाता ने इन्हीं दोनों नेत्रों में।
मीन-मदन फाँसने की वंशी-सी विचित्र नासा,—
फूलदल-तुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल,—
चिबुक चारु और हँसी बिजली-सी,—
योजन-गन्ध-पुष्प-जैसा प्यारा यह मुखमण्डल,—
फैलते पराग दिङ्मण्डल आमोदित कर,—
खिंच आते भौंरे प्यारे।
देख यह कपोत-कण्ठ
बाहु-वल्ली कर-सरोज
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब-भार—चरण सुकुमार—
गति मन्द-मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का;
देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है।
पैरों पड़ते हैं बड़े-बड़े वीर,
माँगते कृपा की भिक्षा,
हाथ जोड़ कहते हैं, 'सुन्दरी! अब कृपा करो,'
पर मैं विजय-गर्व से
विजितों, पद-पतितों पर
डाल अवज्ञा की दृष्टि
फेर लेती चन्द्रानन विश्वजयी!
क्या ही आश्चर्य है!
कुछ दिन पहले तो यहाँ न थी यह अपूर्व शोभा,
निर्मम कठोर प्रकृति त्रस्त किया करती प्राण,
मरु-भूमि-सी थी जगह,
उड़ती उत्तप्त धूलि—झुलसाती थी शरीर
पथिकों को देती थी कठोर दण्ड
चण्ड मार्त्तण्ड की सहायता से।
और आज कितना परिवर्तन है!
हत्याएँ हजार जिन हाथों ने की होंगी
सेवा करते हैं वही हृदय के कपाट खोल
मीठे फल, शीतल जल लेकर बड़े चाव से।
जड़ों में हुआ है नव-जीवन-सञ्चार, धन्य!
इच्छा होती है, इन
सखी-कलियों के संग

गाऊँ मैं अनूठे गीत प्रेम-मतवाली हो,
फूलों से खेलूँ खेल,
गूँथकर पुष्पाभरण पहनूँ,
हार फूलों के डालूँ गले।

(फूलों से सजती है)

अरे! क्या वह कुटीर है?
आया क्या मुनि कोई!
बढ़कर जरा देखूँ तो
कौन यहाँ आया है मूर्ख प्राण देने को।

पंचवटी-प्रसंग : 4

लक्ष्मण—प्रलय किसे कहते हैं?
राम—मन, बुद्धि और अहंकार का लय प्रलय है।
लक्ष्मण—कैसे यह प्रलय होता है, कहो देव!
राम—व्यष्टि औ' समष्टि में नहीं है भेद,
भेद उपजाता भ्रम—
माया जिसे कहते हैं।
जिस प्रकाश के बल से
सौर ब्रह्माण्ड को उद्भासमान देखते हो
उससे नहीं वञ्चित है एक भी मनुष्य भाई!
व्यष्टि औ' समष्टि में समाया वही एक रूप,
चिद्घन आनन्द-कन्द।
आती जिज्ञासा जिज्ञासु के मस्तिष्क में जब—
भ्रम से बच भागने की इच्छा जब होती है—
चेतावनी देती जब चेतना कि छोड़ो खेल,
जागता है जीव तब,
योग सीखता है वह योगियों के साथ रह,
स्थूल से वह सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो जाता;
मन, बुद्धि और अहङ्कार से है लड़ता जब
समर में दिन दूनी शक्ति उसे मिलती है।
क्रम-क्रम से देखता है
अपने ही भीतर वह

सूर्य-चन्द्र-ग्रह-तारे
और अनगिनत ब्रह्माण्ड-भाण्ड।
देखता है स्पष्ट तब,
उसके अहङ्कार में समाया है जीव-जग;
होता है निश्चय ज्ञान—
व्यष्टि तो समष्टि से अभिन्न है;
देखता है, सृष्टि-स्थिति-प्रलय का
कारण-कार्य भी है वही—
उसकी इच्छा है रचना-चातुर्य में
पालन-संहार में।
अस्तु भाई, हैं वे सब प्रकृति के गुण।
सच है, तब प्रकृति उसे सर्वशक्ति देती है—
अष्ट सिद्धियाँ, वह
सर्वशक्तिमान् होता;
इसे भी जब छोड़ता वह,
पार करता रेखा जब समष्टि-अहंकार की—
चढ़ता है सप्तम सोपान पर,
प्रलय तभी होता है,
मिलता वह अपने सच्चिदानन्द रूप से।

लक्ष्मण—तो सृष्टि फिर से किस प्रकार होती है ?

राम—जिनकी इच्छा से संसार में संसरण होता—
चलते-फिरते हैं जीव,
उन्हीं की इच्छा फिर सृजती है सृष्टि नयी।
उसके लिए तात देखो,
क्या है अकार्य यहाँ ?
मुक्त जो हो जाता है
फिर नहीं वह लौटता।
बची रहती है जो अनन्त कोटि सृष्टि की
प्रकृति करती है क्रीड़ा उसे ले अनन्तकाल।
अस्तु, है यह अन्य भाव;
सौर ब्रह्माण्ड के है प्रलय पर तुम्हारा प्रश्न।
सुनो भाई,
जिस प्रकार व्यष्टि एक धरती है सूक्ष्म रूप
वैसी ही समष्टि का भी
सूक्ष्म भाव होता है।

रहते आकाश में हैं
प्रकृति के तब सारे बीज।
और यह भी सत्य है कि
प्रकृति के तीनो गुण सम तब हो जाते हैं—
सीता——यह है बड़ा जटिल भाव,
भक्ति-कथा कहो नाथ !
राम—भक्ति-कर्म-योग-ज्ञान एक ही हैं
यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।
एक ही है, दूसरा नहीं है कुछ—
द्वैतभाव ही है भ्रम।
तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से
भ्रम के पार जाना है।
मुनियों ने मनुष्यों के मन की गति
सोच ली थी पहले ही।
इसीलिए द्वैतभाव-भावुकों में
भक्ति की भावना भरी—
प्रेम के पिपासुओं को
सेवाजन्य प्रेम का
जो अति ही पवित्र है,
उपदेश दिया।
सेवा से चित्त-शुद्धि होती है।
शुद्ध चित्तात्मा में उगता है प्रेमांकुर।
चित्त यदि निर्मल नहीं,
तो वह प्रेम व्यर्थ है—
पशुता की ओर है वह खींचता मनुष्य को।
सीता—देखो नाथ, आती है नारी एक।
राम—बैठो भी, आने दो।

पंचवटी-प्रसंग : 5

शूर्पनखा—(स्वगत) यहाँ तो ये तीन हैं,
एक से हैं एक सुन्दर;
साथ एक नारी भी
सुन्दरी सुकुमारी है,
किन्तु क्या है मुझसे भी ?
(हृदय पर पड़ी हुई पुष्प-माला
देखती है कुछ मुस्किराती हुई)
सुन्दर नरों को तो देखकर यह जान पड़ता,
ऋषि नहीं, ये नहीं हैं तपस्वी कभी,
कोमलांग योग्य नहीं कठिन तपस्या के,
निश्चय हैं राजपुत्र
अथवा नररूप धर वन में हैं विचरते सुर।
श्यामल-सरोज-कान्ति
छीन लेती सहज ही
संचित हृदय का प्रेम—
नारियों का गुप्त धन।
चाहता जी—
नील-जल-सरोवर पर
प्रेम-सुधा-कौमुदी पी
खिल-खिलकर हँसती हुई
भाग्यवती कुमुदिनी-सी
साँवरे का अधर-मधु पान कर
सुख से बिताऊँ दिन।
(राम के पास जाती है)
सुन्दर !
मैं मुग्ध हो गयी हूँ देख
अनुपम तुम्हारा रूप।
जैसी मैं सुन्दरी हूँ,
योग्य ही हो मेरे तुम।
मचल रहा मानस मम
इच्छा यह पूर्ण करो—
कामिनी की कामना
अपूर्ण नहीं रखते पुरुष !

मेरे साथ—मेरे वन
चलो तुम,
बिठाऊँगी स्वर्ग के सिंहासन पर तुम्हें सखे !
कुछ भी अप्राप्य नहीं
सर्वसुख भोगोगे पुरुषोत्तम !
स्वर्ग के राजाधिराज तुम होगे
और मैं राजरानी;
पारिजात-पुष्प के नीचे बैठ सुनोगे तुम
कोमल-कण्ठ-कामिनी की सुधा-भरी असावरी।
भ्रमर-भार-कम्पित यह यूथिका झुकेगी जब—

राम—सुन्दरी, विवाहित हूँ,
देखो, यह पत्नी है।
जाओ तुम उनके पास,
वे हैं कुमार और सुन्दर भी।

लक्ष्मण—सुन्दरी, मैं दास हूँ उनका,
और वे हैं महाराज कोशल-पति,
एक क्या, अनेक ब्याह कर सकते चाहें तो,
सेवक हूँ उनका मैं
मुझसे सुखाशा आकाश-कुसुम-तुल्य है।

शूर्पनखा—(राम से) मेरे योग्य तुम्हीं हो।

राम—देखो तो उन्हें जरा,
कितने वे सुन्दर हैं—हेमकान्ति।

शूर्पनखा—(लक्ष्मण से) मेरे हृदय-दर्पण में
प्रेम का प्रतिविम्ब तव
कितना सुहावना है—कितना सुदर्शन,
तुम देख लो !

लक्ष्मण—दूर हट नीच नारी !

शूर्पनखा—(राम से) धिक् है नराधम तुझे,
वञ्चक कहीं का शठ,
विमुख किया तूने उसे
आयी जो तेरे पास
चाव से
अर्पण करने के लिए जीवन-यौवन नवीन।
निश्छल मनोहर श्याम काम-कमनीय देख
सोचा था मैंने,

तू काम-कला-कोविद
कोई रसिक अवश्य होगा।
मैं क्या जानती थी
यह काम की नहीं है
किन्तु विष की है श्यामता ?--
कूट-कूटकर इसमें
भरा है हलाहल घोर ?
सोचा था गुलाब जिसे
निकला छि: जंगली निर्गन्ध कुसुम।
तप्त मरुभूमि की
मृगी का-सा हुआ भ्रम।
दगा दिया तूने ज्यों
त्यों ही फल भोगेगा इसका तू शीघ्र ही।
दम में दम जब तक है,
काल-नागिनी-सी मैं लगी रहूँगी घात में।
तुझे भी रुलाऊँगी,
जैसा है रुलाया मुझे।
राम—अभी तो रुलाया नहीं,
इच्छा यदि है तो तू
(लक्ष्मण को इशारा)
लक्ष्मण—रो अब जी खोलकर !
(नाक-कान काटते हैं)

[पहले प्रथम **अनामिका** में, फिर **परिमल** में संकलित]

सच्चा प्यार

[1]
मलिन मानस में तेरी छाप,
छा गयी श्याम दृगों पर घटा;
विरह के बादल घेरे घोर
चमकती स्मृति-बिजली की छटा।

[2]

हृदय के अन्तस्तल का प्यार,
लोक-लोचन न पहुँचते जहाँ,
कलेजे को अब करता पार,
छिपावे भी तो कैसे ? कहाँ ?

[3]

तुम्हारी सुधि की अन्तिम साँस
लोक-लज्जा का परदा फाड़
खेलने चली प्रीति-अभिसार
चपल छिपती पलकों की आड़।

[4]

पहुँचते ही आँखों के पास
लगा मेघों का झोंका एक,
विरह-कृश होती चकनाचूर
अगर लेते न उसे तुम देख।

[5]

काँपती हुई गिरी अनजान,
उमड़ आयी सावन-जल-धार
सींचते आँसू ललित कपोल,
छटा दिखलाती सच्चा प्यार !

[6]

फूल सी धुलकर निर्मल हुई
मिटी प्यारी की पिछली छाँह,
आह भर खोले उसने नेत्र
गले में थी प्रियतम की बाँह !

[पहले प्रथम **अनामिका** में, फिर **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

लज्जिता

मुझे क्यों नहीं जगाया नाथ !

[1]

मैं विलास-उपवन में आयी देख निराला रंग
पिया प्रेम का प्याला मेरा हुआ शिथिल सब अंग,
हुईं मदमाती पलकें बन्द,
बजा तब वर विहाग का छन्द,
सुनते सोयी मैं सुहाग-निशि का हो गया प्रभात !
मुझे क्यों नहीं जगाया नाथ !

[2]

बिखर गये ये बाल देख करते हैं सरसिज व्यंग,—
झड़े हुए ये हर - सिंगार भी क्या न जमाते रंग ?
लाज ने जकड़ लिये हैं पैर,
करूँगी अब न बाग की सैर,
जान गये सब लोग, किया यह छल क्यों मेरे साथ ?
मुझे क्यों नहीं जगाया नाथ ।

[पहले प्रथम **अनामिका** में, फिर **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

जलद के प्रति

जलद नहीं,—जीवनद, जिलाया
जब कि जगज्जीवन्मृत को।
तपन - ताप - सन्तप्त तृषातुर
तरुण - तमाल - तलाश्रित को।
पय - पीयूष - पूर्ण पानी से
भरा प्रीति का प्याला है।
नव वन, नव जन, नव तन, नव मन,
नव घन ! न्याय निराला है।

भौंएँ तान दिवाकर ने जब
भू का भूषण जला दिया,
मा की दशा देखकर तुमने
तब विदेश प्रस्थान किया।
वहाँ होशियारों ने तुमको
खूब पढ़ाया, बहकाया,
'द' जोड़ ग्रेड बढ़ाया, तुम पर
जाल फूट का फैलाया।
'जल' से 'जलद' कहा, समझाया
भेद तुझे ऊँचे बैठाल,
दायें - बायें लगे रहे, जिससे
तुम भूलो जाती ख्याल,
किन्तु तुम्हारे चारु चित्त पर
खिची सदा मा की तस्वीर,
क्षीण हुआ मुख, छलक रहा
नलिनी - दल - नयनों से दुख-नीर।
पवन शत्रु ने तुम्हें उतरते देख
उड़ाया पथ - अम्बर,
पर तुम कूद पड़े, पहनाया
मा को हरा वसन सुन्दर;
धन्य तुम्हारे भक्ति - भाव को
दु:ख सहे, डिगरी खोयी,
ऊर्ध्वग जलद ! बने निमग्न जल,
प्यारे प्रीति - बेलि बोयी !

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर श्रावण, संवत् 1980 वि. (जुलाई-अगस्त, 1923), ('जलद' शीर्षक से)। पहले प्रथम **अनामिका** में, फिर **परिमल** में संकलित]

रक्षा बन्धन (2)

बढ़ गयी शोभा सखी सावनी सलोनी हुई
बड़े भाग्य भारत के गये दिन आये फिर !
'रक्षा' से बँधे हैं भारतीयों के कोमल कर;
मंगल मनाती क्यों न, रहा क्यों कलेजा चिर ?

तारों इन सुनहलों के आगे सितारे मात
अथवा प्रकाश रहा बादल - दलों से घिर ?
देख करतूत ऐसी वीरवर सपूतों की
भारत का गर्व से उठेगा या झुकेगा सिर ?

कंगालों का कत्ल अहो इस 'राखी' के रँग में छिपा,
भूत, भविष्यत्, वर्तमान है दीनों का तीनों लिया !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 अगस्त, 1923। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गये रूप पहचान

सुनी राष्ट्रभाषा की जब से भव्य मनोहर तान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥

छिपी छुरी नीचों के छल में,
देख दम्भ दुष्टों के दल में,
बढ़ आगे, हो सजग मेट तू क्षण में नाम-निशान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥ 1॥

चूम चरण मत चोरों के तू,
गले लिपट मत गोरों के तू,
झटक पटक झंझट को झटपट झोंक भाड़ में मान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥ 2॥

खल-दल-बल दलदल में धसका,
गा गौरव-गरिमा गुण-यश का,
क्या किसका, गर तू उकसाता अपना प्राण महान ?
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥ 3॥

आप आप कर अब न अपर को,
बना बाप मत वंचक नर को,

अगर उतरना पार चाहता दिखा शक्ति बलवान।
मिटी मोह-माया की निद्रा गये रूप पहचान॥ 4॥

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 8 सितम्बर, 1923। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

नयन

मद - भरे ये नलिन - नयन मलीन हैं;
अल्प-जल में या विकल लघु मीन हैं?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं?

या पथिक से लोल-लोचन! कह रहे—
"हम तपस्वी हैं, सभी दुख सह रहे।
गिन रहे दिन ग्रीष्म - वर्षा - शीत के;
काल - ताल - तरंग में हम बह रहे।

मौन हैं, पर पतन में—उत्थान में,
वेणु-वर-वादन-निरत - विभु - गान में
है छिपा जो मर्म उसका, समझते;
किन्तु फिर भी हैं उसी के ध्यान में।

आह! कितने विकल-जन-मन मिल चुके;
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके।
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में;
दुःख उन अनुरागियों के झिल चुके।

क्यों हमारे ही लिए वे मौन हैं?
पथिक, वे कोमल कुसुम हैं—कौन हैं?"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 29 सितम्बर, 1923। **परिमल** में संकलित]

चुम्बन

लहर रही शशिकिरण चूम निर्मल यमुना-जल,
चूम सरित की सलिल-राशि खिल रहे कुमुद दल।
कुमुदों के स्मिति-मन्द खुले वे अधर चूमकर
बही वायु स्वच्छन्द, सकल पथ घूम-घूमकर।

है चूम रही इस रात को वही तुम्हारे मधु अधर
जिनमें हैं भाव भरे हुए सकल-शोक-सन्तापहर।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 6 अक्तूबर, 1923। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

गरीबों की पुकार

हमारे ईश हैं बस वे खड़े मैदान में जो हैं
न बदलेंगे कभी हमसे अड़े इक शान में जो हैं
नहीं वे ईश कहलाते बड़ अभिमान में जो हैं,
चढ़े पर वे गिरेंगे ही पड़े अज्ञान में जो हैं॥ 1॥

वही निर्झर, विषम वर्षा-सलिल-संचार में बढ़कर
प्रलय का-सा अनय जो कर गया संसार में बढ़कर,
तड़पता है पड़ा, सूरज उगलता आग जब उस पर,
कलेजा थामकर कहता, 'गरीबों पर रहम अब कर'॥ 2॥

लगायेंगे वही बेड़ा हमारा पार दुनिया में
हमें जिनका हमारा भी जिन्हें है प्यार दुनिया में॥ 3॥

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 6 अक्तूबर 1923। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

उसकी स्मृति

मृदु सुगन्ध-सी कोमलदल फूलों की;
शशि-किरणों की-सी वह प्यारी मुसकान,
स्वच्छन्द गगन-सी मुक्त, वायु-सी चञ्चल;
खोयी स्मृति की फिर आयी-सी पहचान;

लघु लहरों की-सी चपल चाल वह चलती
अपने ही मन से निर्जन वन की ओर,
चकित हुई चितवन वह मानो कहती—
मैं ढूंढ़ रही हूँ उस अजान का छोर।

बन्द पवन के झोंकों से लहराते काले बाल
कवियों के मानस की मृदुल कल्पना के-से जाल,

वह विचर रही थी मानस की प्रतिमा-सी
उतरी इस जगती - तल में,
वन के फूलों को चुनकर बड़े चाव से
रखती थी लघु अञ्चल में;

यों उस सरलता-लता में
सब फूल आप लग जाते,
अनुपम शोभा पर उसकी
कितने न भँवर मँडलाते!
उसके गुण गानेवाले
खग जीते थे मृदु उड़कर,
मधु के, मद के प्यासों के
पर उसने कतरे थे पर।

क्या जाने उसने किसको पहनायी थी
अपने फूलों की अपनी सुन्दर माला,
क्या जाने किसके लिए यहाँ आयी थी
वह सुर-सरिता-सैकत-सी गोरी बाला?

वह भटक रही थी वन में मारी - मारी
था मिला उसे क्या उसका वही अनन्त?
वह कली सदा को चली गयी दुनिया से,
पर सौरभ से है पूरित आज दिगन्त!

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 13 अक्तूबर, 1923 ('उसकी स्मृति में' शीर्षक से)। **परिमल में संकलित**]

कविप्रिया
(विजया की भेंट)

[1]

लहर रहा नभ चूम चूम आगे वह सागर,
जल भरने कवि सरल चला ले छोटा गागर,
मचल गया मन देख निरा छोटा घट अपना,
उधर उमड़ता प्रबल जलधिजल, इधर कल्पना;
घट छोटा था उसका सही, मन का वह छोटा न था,
उच्चाकांक्षाओं से भरे भावों का टोटा न था।

[2]

झरने की अविराम झड़ी - सी रहे लगाते—
कवितामय कविनेत्र सदा आँसू बरसाते,
धोकर युगल कपोल हृदय कन्दर से होकर
मर्मस्थल की प्रकट व्यथा - सी मानों रोकर;
वह उतरा प्राकृत भूमि में छोड़ कल्पना - वेदना;
था नयन - सलिल से मिला घट पूरित और सुहावना !

[3]

भरा हुआ यों सरस सलिल से गागर पाया,
और समाया विमल उसी में सागर पाया।
भावभरा घट छलक छलक कर रह जाता था,
कविता के पद मधुर, न जाने, कह जाता था !
घन मंण्डल की छाया न थी उसमें श्याम पड़ी हुई।
काले बालों को खोलती कविता आप खड़ी हुई।

[4]

क्या केवल वह सलिल ? नहीं, कवि का दर्पण था
बिम्बित जिसमें सर्वचराचर का जीवन था।
जलदजाल को चीर झरोखे में से शशधर
झाँक रहा था चंचल चितवन से जनमन-हर;
या चन्द्रमुखी घटपट उलट कवि चकोर को मोहती
था कवि भी उसको जोहता वह भी कवि को जोहती।

[5]

जल की बूंदें गूंथ उसे पहनायी माला,
मोती का सा साज सभी लड़ियों में आला;
बदले में ले अधर सुधारस - सिंचित प्याला,
जीवन भर वह अमृत पिया बनकर मतवाला।
हाँ, एक बिन्दु में ही उसे सुधासिन्धु दिखला दिया
उसने जो कहलाती सदा कविता कवियों की प्रिया।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 20 अक्तूबर, 1923। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

विधवा

यह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा - सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

षड् - ऋतुओं का शृङ्गार,
कुसुमित कानन में नीरव - पद - सञ्चार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है।

उसके मधु - सुहाग का दर्पण,
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।

हैं करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा, तो भीगीं मन-मधुकर की पाँखें;
मृदु रसावेश में निकला जो गुञ्जार
यह और न था कुछ, था बस हाहाकार !

उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भीगे अञ्चल में मन को—
दुख-रूखे सूखे अधर—त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नजरों से दूर बचाकर,
रोती है अस्फुट स्वर में;
दुख सुनता है आकाश धीर,—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहरकर।

कौन उसको धीरज दे सके ?
दुःख का भार कौन ले सके ?

यह दुःख वह जिसका नहीं कुछ छोर है,
दैव अत्याचार कैसा घोर और कठोर है !
क्या कभी पोंछे किसी ने अश्रु-जल ?
या किया करते रहे सबको विकल ?
ओस - कण - सा पल्लवों से झर गया
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 27 अक्तूबर, 1923 ('भारत की विधवा' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

पहचाना

पहचाना—अब पहचाना—
हाँ, उस कानन में खिले हुए तुम
चूम रहे थे झूम-झूम
ऊषा के स्वर्ण कपोल,

अठखेलियाँ तुम्हारी प्यारी-प्यारी,—
व्यक्त इशारे से ही सारे बोल मधुर अनमोल।
सजे-बजे करते थे सबका स्वागत,
घूँघट का पट खोल दिखाते उसे प्रकृति का मुखड़ा,
जिसे समझते थे अभ्यागत।
तुम्हारा इतना हृदय उदार
व' क्या समझेगा माली निष्ठुर—
निरा गँवार—

स्वार्थ का मारा यहाँ भटकता—
फूटी कौड़ी पर विनोदमय
जीवन सदा पटकता—
तोड़ लिया लचकायी ज्यों ही डाली,
पत्थर से भी कठिन कलेजे का है
चला गया जो वह हत्यारा माली।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 3 नवम्बर, 1923 ('अब पहचाना!' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

देवि! कौन वह?

बैठी हुई हृदय में जब क्या जाने क्या वह गाती—
चपल अँगुलियों की गति से वह वीणा मंजु बजाती,
जिसकी मधुर मुस्कुराहट है मेरे आगे आती
देवि! कौन वह इंगित पर जो जीवन चक्र चलाती?

भरी सभा के बीच बैठकर जब मैं सिकुड़ लजाता,
करके दुख से मस्तक नीचा हूँ गरीब बन जाता,
विद्या की अधरों पर आती है जब पूर्ण पिपासा,
देवि! कौन वह बन जाती जो भावुक जन की भाषा?

बार-बार असफल होने पर जब हताश हो जाता,
जब भविष्य को घिरा हुआ मैं अन्धकार से पाता,

मारा गया रंग मेरा जब फेंका ही था पासा,
देवि ! कौन वह खड़ी पास तब कहती मैं हूं आशा ?

विजन देश में जाकर जब मैं पाता हूँ नीरवता
उसी एक का ध्यान लगाये उसका रूप निरखता
किन्तु मुझे बहकाती है जब उसकी निष्ठुर माया
देवि ! कौन वह राह बताते मैंने जिसको पाया ?

विषमय देख विश्व को जब मैं कलप-कलप कर रोता
अपने सभी साधनों को मैं पागल बनकर खोता
माता-सी तब मुझे उठाकर स्नेह - गोद में लेती
देवि ! कौन वह जो मुझको है विविध सान्त्वना देती ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 3 नवम्बर, 1923। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

कविता

शिला-खण्ड पर बैठी वह,
नीलाञ्चल मृदु लहराता था—
मुक्त-बन्ध सन्ध्या-समीर-सुन्दरी-संग
कुछ चुप-चुप बातें करता जाता
और मुस्कुराता था;

विकसित असित सुवासित उड़ते उसके
कुञ्चित कच गोरे कपोल छू-छूकर,—
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे,
थपकी एक मारकर बड़े प्रेम से इठलाते थे;
शिशिर-बिन्दु रस-सिन्धु बहाता सुन्दर,
अंगना-अंग पर गगनांगन से गिरकर।

यह कविता ही थी और साज था
उसका बस श्रृंगार,—

वीणा के वे तार नहीं जो बजते,
वह कवि की ही थी हार,
जहाँ से उठती करुण पुकार,—
"चित्रित करने के उपाय तो किये
व्यर्थ हो गये किन्तु उपचार !"
भरा हुआ था हृदय प्यार से उसका,
उस कविता का,
वह थी निश्छल, अविकार,
अंग-अंग से उठीं तरंगें उसके,
वे पहुँचीं कवि के पास, कहा —
"तुम चलो, बुलाया है उसने जल्दी
तुमको उस पार।"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 10 नवम्बर, 1923 ('उस पार !' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता
पथ पर आता।

पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी-भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,
बायें से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।

भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता—भाग्य-विधाता से क्या पाते ?—
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे सभी सडक पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 17 नवम्बर, 1923। **परिमल में संकलित**]

सन्ध्या-सुन्दरी

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु गम्भीर,—नहीं है उनमें हास-विलास।

हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।

अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।

नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुन-झुन रुन-झुन रुन-झुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप चुप चुप"
है गूंज रहा सब कहीं,—
व्योममण्डल में—जगती-तल में—

सोती शान्त सरोवर पर उस अमर कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य-गर्विता-सरिता के अति विस्तृत वक्षःस्थल में—
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—
उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में—
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप चुप चुप"
है गूँज रहा सब कहीं,—
और क्या है ? कुछ नहीं।

मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला वह एक पिलाती,
सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह कितने मीठे सपने।

अर्द्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती वह लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कण्ठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 24 नवम्बर, 1923। **परिमल में संकलित**]

पथ

मेरे घर से निकल चले बढ़ते हुए
उस अजान की ओर तुम्हारा छोर असीम अनन्त;
कहीं-कहीं जब देखा कोई द्वार—
दीन-हीन मुझ ऐसे का घर-बार,
तो ठहर गये, तुम गये अतः अड़ते हुए।
और नहीं सीधे पहुँचे तुम उस अनन्त के घर में;
धोखा खाया तुमने भी क्षण-भर में;
उलझ गये तुम कभी कँटीले बन में,
पथरीले टीले में, कभी विजन में,
कभी कन्दरा के कराल आनन में।

दहशत तुम्हें क्या थी प्रकृति की इस उखाड़-पछाड़ की ?—
दूध पीता छिन गया बच्चा अभी जिस शेरनी का
माँद से उसकी कठोर दहाड़ की ?
तुम्हें खौफ क्या जब कि काल के घर जाते हो
और हाल अपने अनन्त का बतलाते हो
किन्तु वहाँ भी जब सीमा से घिर जाते हो
क्या जाने तब किधर कहाँ तुम फिर जाते हो !

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर अग्रहायण, संवत् 1980 वि. (नवम्बर-दिसम्बर, 1923) । **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) के परिशिष्ट में संकलित]

शरत्पूर्णिमा की बिदाई

बदी बिदाई में भी अच्छी होड़ !

शरत् ! चाँद यह तेरा मृदु मुखड़ा ?—
अथवा विजय-मुकुट पर तेरे, ऐ ऋतुओं की रानी,
हीरा है यह जड़ा ?
कुछ भी हो, तू ठहर, देख लूं भर नजर,
क्या जाने फिर क्या हो, इस जीवन का,
तू ठहर—ठहर !

तार चढ़ाये तो मैंने कस-कसकर,
पर हाय भाग्य, क्या गाऊँ ?
कभी रूठकर और कभी हँस-हँसकर,
क्यों कहती है—"क्या जाऊँ ? क्या अब जाऊँ ?"
अगर तुझे जाना था,
तो भरे हुए अंगों से रस छलकाना—
क्या एक रोज के लिए तुझे आना था !

तेरे आने से, देख, क्या छटा छायी है इस वन में—
सोते हुए विहंगों में कानन में,

चौंक-चौंककर और फैल जाता है निर्जन भाव,
पपीहे के "पिउ-पिउ" कूजन में।
उधर मालती की चटकी जो कली,
चाँदनी ने झट चूमे उसके गोल कपोल,
और कहा, "बस बहन, तुम्हारी सूरत कैसी भोली !"
कहा कली ने, "हाँ, और हों ऐसे मीठे बोल !"

मन्द तरंगों की यमुना का काला-काला रंग,
और गोद पर उसकी ये सोते हैं कितने तारे—
कैसे प्यारे-प्यारे,
सातों ऋषियों की समाधि गम्भीर,
गाती यमुना, तुझे सुनाती, धीरे धीरे धीरे,
कलकल कुलकुल कलकल टलमल टलमल
तेरे मुख-विकसित-सरोज का प्रेमी एक अनन्त,
किन्तु देर अब क्या है सखि ?—
कल आता है हेमन्त, साथ ही अन्त।

तुझे देखकर मुझे याद आयी है,
वह एक और प्यारा मुख, वह कितना सुख।
और बिदाई की वह मीठी चितवन—
बस ऐसी ही अति नम्र और अनुकूल—
जिसने हृदय बेध डाला है—
साथ उसी के चला गया है यह मन—
उसकी फुलवाड़ी का फूल
जो माला-भर में आला है।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 1 दिसम्बर, 1923 ('शरत्पूर्णिमा की बिदाई में !' शीर्षक से)। **परिमल में संकलित**]

खँडहर के प्रति

खँडहर ! खड़े हो तुम आज भी ?
अद्भुत अज्ञात उस पुरातन के मलिन साज !
विस्मृति की नींद से जगाते हो क्यों हमें—
करुणाकर, करुणामय गीत सदा गाते हुए ?

पवन-सञ्चरण के साथ ही
परिमल-पराग-सम अतीत की विभूति-रज—
आशीर्वाद पुरुष-पुरातन का
भेजते सब देशों में,
क्या है उद्देश्य तव ?
बन्धन-विहीन भव !
ढीले करते हो भव-बन्धन नर-नारियों के ?
अथवा,
हो मलते कलेजा पड़े, जरा-जीर्ण
निर्निमेष नयनों से
बाट जोहते हो तुम मृत्यु की
अपनी सन्तानों से बूंद भर पानी को तरसते हुए ?
किंवा, हे यशोराशि !
कहते हो आँसू बहाते हुए—
"आर्त भारत ! जनक हूँ मैं
जैमिनि-पतञ्जलि-व्यास-ऋषियों का;
मेरी ही गोद पर शैशव-विनोद कर
तेरा है बढ़ाया मान
राम-कृष्ण-भीमार्जुन-भीष्म नरदेवों ने ।
तुमने मुख फेर लिया,
सुख की तृष्णा से अपनाया है गरल,
तो बसे नव छाया में
नव स्वप्न ले जगे,
भूले वे मुक्त प्रान, साम-गान, सुधा-पान ।"
बरसो आशीस, हे पुरुष-पुराण,
तव चरणों में प्रणाम हैं ।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1923। 'मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 8 दिसम्बर, 1923, में प्रकाशित । द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

अंजलि

बन्द तुम्हारा द्वार !
मेरे सुहाग श्रृंगार !
द्वार यह खोलो—!
सुनी भी मेरी करुण पुकार ?
जरा कुछ बोलो !
स्नेह-रत्न, मैं बड़े यत्न से आज
कुसुमित कुन्ज-द्रुमों से सौरभ-साज
सञ्चित कर लायी, पर कब से वञ्चित !
तुम ले लो, प्रिय, ले लो, ले लो—यह हार नहीं,
यह नहीं प्यार का मेरे
कोई अमूल्य उपहार,
नहीं कहीं भी इसमें आया
मेरा नाम-निशान,
और मुझे क्यों होगा भी अभिमान ?
पर नहीं जानती, अगर सुमन-मन-मध्य
समायी भी हो मेरी लाज,
माला के पड़ते ही वीर, हृदय पर,
छीने तुमसे मेरा राज।
विश्व-मनोरथ-पथ का मेरे प्रियतम,
बन्द किया क्यों द्वार ?
सोते हुए देखते हो तुम स्वप्न ?—
या नन्दन-वन के पारिजात-दल लेकर
तुम गूँथ रहे हो और किसी का हार ?
उस विहार में पड़े हुए तुम मेरा
यों करते हो परिहार।
बिछे हुए थे काँटे उन गलियों में,
जिनसे मैं चलकर आयी,—
पैरों में छिद जाते जब,
आह मार मैं तुम्हें याद करती तब,
राह प्रीति की अपनी—वही कण्टकाकीर्ण,
अब मैं तै कर पायी।
पड़ी अँधेरे के घेरे में कब से
खड़ी संकुचित है कमलिनी तुम्हारी,
मन के दिनमणि, प्रेम-प्रकाश !

उदित हो, आओ, हाथ बढ़ाओ,
उसे खिलाओ, खोलो प्रियतम द्वार,
पहन लो उसका यह उपहार,
मृदु-गन्ध परागों से उसके तुम कर दो
सुरभित प्रेम-हरित स्वच्छन्द
द्वेष-विष-जर्जर यह संसार।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 15 दिसम्बर, 1923 ('प्रार्थना!' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

हूँ दूर

हूँ दूर—सदा मैं दूर!
कल्लोलिनी कला-जल-कलरव,
सुमन-सुरभि समीर-सुख-अनुभव
कुमुद-किरण-अभिसार-केलि - नव,
देख रहा तू भूल—शूर!
हूँ दूर—सदा मैं दूर!

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 22 दिसम्बर, 1923। **गीतिका** के आरम्भ में संकलित]

धारा

बहने दो,
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है?

गरज-गरज वह क्या कहती है, कहने दो—
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो।
सुना, रोकने उसे कभी कुंजर आया था,
दशा हुई फिर क्या उसकी ?—
फल क्या पाया था ?

तिनका-जैसा मारा-मारा
फिरा तरंगों में बेचारा—
गर्व गँवाया—हारा;
अगर हठ-वश आओगे,
दुर्दशा करवाओगे—बह जाओगे।

देखते नहीं ?—वेग से हहराती है—
नग्न प्रलय का-सा ताण्डव हो रहा—
चाल कैसी मतवाली—लहराती है।
प्रकृति को देख, मींचती आँखें,
त्रस्त खड़ी है—थर्राती है।

आज हो गये ढीले सारे बन्धन,
मुक्त हो गये प्राण,
रुका है सारा करुणा-क्रन्दन।

बहती कैसी पागल उसकी धारा !
हाथ जोड़कर खड़ा देखता दीन
विश्व यह सारा।

बड़े दम्भ से खड़े हुए ये भूधर
समझे थे जिसे बालिका,
आज ढहाते शिला-खण्ड-चय देख
काँपते थर-थर—
उपल-खण्ड नर-मुण्ड-मालिनी कहते उसे कालिका।

छुटी लट इधर-उधर लटकी हैं,
श्याम वक्ष पर खेल रही हैं
स्वर्ण-किरण-रेखाएँ।
एक पर दृष्टि जरा अटकी है,
देखा, एक कली चटकी है।

लहरों पर लहरों का चंचल नाच,
याद नहीं थी, करना उसकी जाँच,
अगर पूछता कोई तो वह कहती,
उसी तरह हँसती पागल-सी बहती —
"यह जीवन की प्रबल उमंग,
जा रही मैं मिलने के लिए,
पार कर सीमा,
प्रियतम असीम के संग।"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 29 दिसम्बर, 1923। **परिमल में संकलित**]

आवाहन

एक बार बस और नाच तू श्यामा !

सामान सभी तैयार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार ?
कर-मेखला मुण्ड-मालाओं से बन मन-अभिरामा—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

भैरवी ! भेरी तेरी झंझा
तभी बजेगी मृत्यु लड़ायेगी जब तुझसे पंजा;
लेगी खड्ग और तू खप्पर,
उसमें रुधिर भरूँगा मा
मैं अपनी अञ्जलि भर-भर;
उँगली के पोरों में दिन गिनता ही जाऊँ क्या मा—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

अट्टहास-उल्लास नृत्य का होगा जब आनन्द,
विश्व की इस वीणा के टूटेंगे सब तार,
बन्द हो जायेंगे ये सारे कोमल छन्द,
सिन्धु-राग का होगा तब आलाप—

उत्ताल-तरंग-भंग कह देंगे
मा, मृदंग के सुस्वर क्रिया-कलाप;
और देखूंगा देते ताल
कर-तल-पल्लव-दल से निर्जन वन के सभी तमाल;
निर्झर के झर-झर स्वर में तू सरिगम मुझे सुना मा—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 5 जनवरी, 1924। **परिमल** में संकलित]

वन-कुसुमों की शय्या

त्रस्त विश्व की आँखों से बह-बहकर,
धूलि-धूसरित धोकर उसके चिन्तालोल कपोल,
श्वास और उच्छ्वासों की आवेग-भरी हिचकी से
दलित हृदय की रुद्ध अर्गला खोल—
धीर करुण ध्वनि से वह अपनी कथा व्यथा की कहकर
धारा भरती धराधाम के दुःख-अश्रु का सागर।

दाह-तपन-उत्तप्त दुःख-सागर-जल खौल उठा
फिर बना वाष्प का काला बादल,
बरसाया जब मेह, धरा की
सारी ज्वाला कर दी शीतल।

किन्तु आह फिर भी क्या होती शान्त ?
नहीं, जले दिल को तो ठण्डक और चाहिए—
और चाहिए कुसुमित वन का प्रान्त,
मदिर नयन—वे अर्द्ध-निमीलित लोचन।
वन-कुसुमों की शय्या पर एकान्त।

सोती हुई सरोज-अंक पर
शरत्-शिशिर दोनों बहनों के
सुख-विलास-मद-शिथिल अंग पर

पद्म-पत्र पंखे झलते थे
मलती थी कर-चरण समीरण धीरे-धीरे आती—
नींद उचट जाने के भय से थी कुछ-कुछ घबराती।

बड़ी बहन वर्षा ने उन्हें जगाया—
अन्तिम झोंका बड़े जोर से एक,
किन्तु क्रोध से नहीं, प्यार से,
अमल-कमल-मुख देख,
झुक हँसते हुए लगाया,—सोते से उन्हें उठाया।

वे उठीं, सेज मुरझायी,
एक-दूसरी का थीं पकड़े हाथ,
और दोनों का ऐसा ही था अविचल साथ;
कभी-कभी वे लेती थीं अँगड़ाई,
क्योंकि नींद वह उचटी
थी मदमाती आँखों में उनकी छायी।

रस की बूंदें बन, उस नीले अम्बर से
वे टपक पड़ीं, लोगों की नजर बचाकर,
हरसिंगार की कोमल-दल कलियों पर।

सुबह को बिछी हुई शय्या का देखा जब ऐसा शृंगार,
पूछा, "क्या है ?"
"इस निर्जन में दीनों का ही होता होता सदा विहार।"
छिपे अंचल में मुख की चंचल
वह वाणी थी उसके सुहाग की प्रेममयी रानी की—
दुख में सुख लानेवाली कल्याणी की।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 12 जनवरी, 1924। **परिमल** में संकलित]

श्रृङ्गारमयी

शरच्चन्द्रिका-सी वह सुन्दर गोरी—
अभी खिली मृदु गन्ध कली की मन्द-मन्द मुस्कान,
यौवन-मदिरा पीकर ज़रा नशीली
अलस हुई कुछ नीची चितवन,
छिपी हृदय में वह प्रियतम के
किसी सलज्ज षोडशी-सी पहचान,
विरह-विधुर पर मधुर कण्ठ की निकली—
वह अम्बर-पथ पर स्वर-सरिता-सी बहती—
थी सरस इमन की तान,
श्रृङ्गारमयी वह खड़ी हुई
कविजन-मन-मानस-तट पर
प्रिय ध्यानमयी थी इस दुनिया की बातों से अनजान।
चंचल अंचल उसका लहराता था—
खिंची सखी-सी वह समीर से
गुपचुप बातें करता—
कभी ज़ोर से बतलाता था;
विकसित कुसुम-सुशोभित असित सुवासित
कुंचित कच बादल-से काले-काले
उड़ते, लिपट उरोजों से जाते थे,
मार-मार थपकियाँ प्यार से इठलाते थे,
झूम-झूमकर कभी चूम लेते थे स्वर्ण-कपोल,
जलतरंग-सा रंग जमाते हुए सुनाते बोल;
शिशिर-बिन्दु रस-सिन्धु बहाता सुन्दर
अंगना-अंग पर गगनांगण से गिरकर
कविता की सरिता में, उसे देखकर,
उठती थी जो लहर, ठहर जाती थी
अरुण कमल-कोमल उसके चरणों पर।
"कैसे चित्रित करूँ ?"—
कहा जब कवि ने भरकर आह—
"सुनी भी मेरी करुण पुकार ?
व्यर्थ हो गये देवि, देखते तुम्हें सभी उपचार"
कहा प्यार से उसने—उस देवी ने—

"हाँ, ठीक तो, यह लो मेरा हार,
पहन लो, और ज़रा अनुराग-परागों में खोजो,
उपहार नहीं,—देखो, क्या मिलता है तुमको शृंगार।"

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, 13 जनवरी, 1924। असंकलित]

प्रलाप

वीणानन्दित वाणी बोल !
संशय-अन्धकारमय पथ पर भूला प्रियतम तेरा—
सुधाकर-विमल धवल मुख खोल !

प्रिये, आकाश प्रकाशित करके,
शुष्ककण्ठ कण्टकमय पथ पर
छिड़क ज्योत्स्ना घट अपना भर-भरके !
शुष्क हूँ—नीरस हूँ—उच्छृंखल—
और क्या-क्या हूँ, क्या मैं दूं अब इसका पता,
बता तो सही, किन्तु वह कौन घेरनेवाली
बाहु-बल्लियों से मुझको है एक कल्पना-लता ?

अगर वह तू है तो आ चली
विहग-गण के इस कल कूजन में—
लता-कुन्ज में मधुप-पुन्ज के 'गुन-गुन-गुन' गुन्जन में
क्या सुख है—यह कौन कहे सखि,
निर्जन में इस नीरव मुख-चुम्बन में ?

अगर बतायेगी तू पागल मुझको
तो उन्मादिनी कहूँगा मैं भी तुझको;
अगर कहेगी तू मुझको 'यह है मतवाला निरा'
तो तुझे बताऊंगा मैं भी लावण्य-माधुरी-मदिरा;
अगर कभी देगी तू मुझको कविता का उपहार
तो मैं भी तुझे सुनाऊँगा भैरव के पद दो-चार !

शान्ति सरल मन की तू कोमल कान्ति—
यहाँ अब आ जा,
प्याला-रस कोई हो भरकर
अपने ही हाथों तू मुझे पिला जा,
नस-नस में आनन्द-सिन्धु की धारा प्रिये, बहा जा;
ढीले हो जायें ये सारे बन्धन,
होये सहज चेतना लुप्त,—
भूल जाऊँ अपने को,
कर दे मुझे अचेतन।
भूलूं मैं कविता के छन्द,
अगर कहीं से आये सुर-संगीत—
अगर बजाये तू ही बैठ बगल में कोमल तार
तो कानों तक आते ही रुक जाये उनकी झंकार;
भूलूं मैं अपने को भी
तुझको—अपने प्रियजन को भी !
हँसती हुई, दशा पर मेरी प्रिय अपना मुख मोड़,
जायेगी ज्यों-का-त्यों मुझको यहाँ अकेला छोड़ !
इतना तो कह दे—सुख या दुख भर लेगी
जब इस नद से कभी नयी नय्या अपनी खेयेगी ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 19 जनवरी, 1924। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

रास्ते के फूल से

झोली करुणा की भिक्षा की,
दलित कुसुम ! क्यों कहो,
धूलि में नजर गड़ाये हो फैलाये ?
मलिन दृष्टि के भाषा-हीन भाव से—
मर्मस्पर्शी देश-राग के-से प्रभाव से
क्या तुम बतलाते हो
जब किसी पथिक को इधर कभी आते-जाते पाते हो ?

क्या कहते हो —"झटिका के
झोंके में तरु था झुका,
बचने पर भी, हाय, अन्त तक न रुका।
खिन्न लतिका को करके छिन्न,
आँधी मुझे उड़ा लायी है
तब से यह नौबत आयी है!"
यह नहीं? कहो फिर—फिर क्या!—
"ढके हृदय में स्वार्थ लगाये ऊपर चन्दन,
करते समय नदीश-नन्दिनी का अभिनन्दन,
तुम्हें चढ़ाया कभी किसी ने था देवी पर,
दिन-भर में मुरझाये,
रूप-सुवास-रंग चरणों पर यद्यपि अर्जित कर पाये,
किन्तु देखकर तुम्हें जरा से जर्जर,
फेंक दिया पृथ्वी पर तुमको
रक्खे हुए हृदय में अपने उस निर्दय ने पत्थर?"
नहीं? तो क्यों दुख से घिरते हो?
मारे-मारे इधर-उधर फिरते हो?
क्या कहते हो?—"बीत गयी वह रात—
सिद्धि की मधुर दृष्टि का
युगल-मिलन पर प्रेम-पूर्ण सम्पात,
जब दो साधक थे प्रीति-साधना-तत्पर,
प्रीति-अर्चना की रचना मुझसे ही की थी सुन्दर,
रस्में अदा हुई थीं मुझसे—
मैं ही था उनका आचार्य,—
कोमल कर था मिला कमल-कर से जब
सिद्ध हुआ मुझसे ही उसका कार्य;
प्रेम-बन्ध का मैं ही था सम्बन्ध—
'ललित कल्पना'—'कोमल पद' का
मैं था 'मनहर' छन्द!"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 जनवरी, 1924 ('रास्ते के मुरझाये हुए फूल से' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

अनुताप

जहाँ हृदय में बालकेलि की कलाकौमुदी नाच रही थी,
किरण बालिका जहाँ विजन-उपवन-कुसुमों को जाँच रही थी,
जहाँ वसन्ती-कोमल-किसलय-वलय-सुशोभित कर बढ़ते थे,
जहाँ मञ्जरी-जयकिरीट वनदेवी की स्तुति कवि पढ़ते थे,
जहाँ मिलन शिंजन-मधुगुञ्जन युवक-युवति-जन मन हरता था,
जहाँ मृदुल पथ पथिक-जनों की हृदल खोल सेवा करता था,

आज उसी जीवन-वन में घन अन्धकार छाया रहता है,
दमन-दाह से आज, हाय ! वह उपवन मुरझाया रहता है !

[‘मतवाला’, साप्ताहिक, कलकत्ता, 2 फरवरी, 1924। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

शंकिता

मैं न जानती थी तुम ऐसे हो कठिन,
मार्ग तुम्हारा भी ऐसा है कुटिल,
काँटों से घिरा हुआ—
कोमलपद कामिनियों के वह है नहीं
चलने योग्य कभी भी
आह ! बुलाया अगर मुझे तो क्यों कहो
भटकाते हो इस तरह
देव ! न अब चलने की मुझमें शक्ति है,
मैं क्या जानूँ सर्वशक्तिमय प्रियतम की शय्या में
सो सकती है वही सुहागिन
शक्तिमयी—हाँ सर्वविजयिनी पायी जिसने शक्ति हो,
रूप और लावण्य, तुम्हारा निर्विकार वह प्रेम भी।
मैं आयी थी सुनकर एक सखी से
बाहु-लताओं से भेंटा था
जिसने तुमको प्रेम से;
किन्तु मुझे तो हाय भटकना ही बदा !

और कँटीला मार्ग पार कैसे करे
कोमलपदगामिनी कृशांगी अबला ?
मारे डर के काँप रहा दुर्बल हृदय,
फेरो अब तो मुझ पर करुणादृष्टि
देव करुणामय !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 9 फरवरी, 1924। **असंकलित कविताएँ में** संकलित]

यहीं

मधुर मलय में यहीं
गूँजी थी एक वह जो तान
लेती हिलोरें थीं समुद्र की तरंग-सी—,
उत्फुल्ल हर्ष से प्लावित कर जाती तट।
वीणा की झंकृति में स्मृति की पुरातन कथा
जग जाती हृदय में,—बादलों के अंग में
मिली हुई रश्मि ज्यों
नृत्य करती आँखों की
अपराजिता-सी श्याम कोमल पुतलियों में,
नूपुरों की झनकार
करती शिराओं में संचरित और गति
ताल-मूर्च्छनाओं सधी।
अधरों के प्रान्तों पर खेलती रेखाएँ
सरस तरंग-भंग लेती हुई हास्य की।
बंकिम कर ग्रीवा
बाहु-वल्लरियों को बढ़ाकर
मिलनमय चुम्बन की कितनी वे प्रार्थनाएं
बढ़ती थीं सुन्दर के समाराध्य मुख की ओर
तृप्तिहीन तृष्णा से।

कितने उन नयनों ने
प्रेम-पुलकित होकर
दिये थे दान यहाँ
मुक्त हो मान से !
कृष्ण घन अलकों में
कितने प्रेमियों का यहाँ पुलक समाया था !
आभा में पूर्ण, वे बड़ी-बड़ी आँखें,
पल्लवों की छाया में
बैठी रहती थीं मूर्ति निर्भरता की बनी ।

कितनी वे रातें
स्नेह की बातें
रक्खे निज हृदय में
आज भी है मौन यहाँ—
लीन निज ध्यान में ।
यमुना की कल ध्वनि
आज भी सुनाती है विगत सुहाग-गाथा ।
तट को बहाकर वह
प्रेम की प्लावित
करने की शक्ति कहती है ।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 16 फरवरी, 1924 । द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

स्वप्न-स्मृति

आँख लगी थी पल-भर,
देखा, नेत्र छलछलाये दो
आये आगे किसी अजाने दूर देश से चलकर ।
मौन भाषा थी उनकी, किन्तु व्यक्त था भाव,
एक अव्यक्त प्रभाव
छोड़ते थे करुणा का अन्तस्थल में क्षीण,
सुकुमार लता के वाताहत मृदु छिन्न पुष्प-से दीन ।

भीतर नग्न रूप था घोर दमन का,
बाहर अचल धैर्य था उनके उस दुखमय जीवन का;
भीतर ज्वाला धधक रही थी सिन्धु अनल की,
बाहर थीं दो बूँदें—पर थीं शान्त भाव में निश्चल—
विकल जलधि के जर्जर मर्मस्थल की।

भाव में कहते थे वे नेत्र निमेष-विहीन—
अन्तिम श्वास छोड़ते जैसे थोड़े जल में मीन,—
"हम अब न रहेंगे यहाँ, आह संसार !
मृगतृष्णा से व्यर्थ भटकना, केवल हाहाकार
तुम्हारा एकमात्र आधार;
हमें दुःख से मुक्ति मिलेगी—हम इतने दुर्बल हैं—
तुम कर दो एक प्रहार !"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 23 फरवरी, 1924 ('स्वप्न में' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

वीणावादिनी

तव भक्त भ्रमरों को हृदय में लिये वह शतदल विमल
आनन्द-पुलकित लोटता नव चूम कोमल चरणतल।
बह रही है सरस तान-तरंगिनी,
बज रही वीणा तुम्हारी संगिनी,
अयि मधुरवादिनि, सदा तुम रागिनी-अनुरागिनी,
भर अमृत-धारा आज कर दो प्रेम विह्वल हृदयदल।
आनन्द-पुलकित हों सकल तव चूम कोमल चरणतल !
स्वर हिलोरें ले रहा आकाश में,
काँपती है वायु स्वर-उच्छ्वास में,
ताल-मात्राएँ दिखाती भंग, नव गति, रंग भी
मूच्छित हुए से मूर्च्छना करती उठाकर प्रेम-छल।
आनन्द-पुलकित हों सकल तव चूम कोमल चरणतल !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 23 फरवरी, 1924। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

बहू

सौन्दर्य-सरोवर की वह एक तरङ्ग,
किन्तु नहीं चञ्चल प्रवाह—उद्दाम वेग—
संकुचित एक लज्जित गति है वह
प्रिय समीर के सङ्ग।

वह नव वसन्त की किसलय-कोमल लता,
किसी विटप के आश्रय में मुकुलिता
किन्तु अवनता।

उसके खिले कुसुम-सम्भार
विटप के गर्वोन्नत वक्षःस्थल पर सुकुमार,
मोतियों की मानो है लड़ी
विजय के वीर हृदय पर पड़ी।

उसे सर्वस्व दिया है,
इस जीवन के लिए हृदय से जिसे लपेट लिया है।
वह है चिरकालिक बन्धन,
पर है सोने की जंजीर,
उसी से बाँध लिया करती मन,
करती किन्तु न कभी अधीर।

पुष्प है उसका अनुपम रूप,
कान्ति सुषमा है,
मनोमोहिनी है वह मनोरमा है,
जलती अन्धकारमय जीवन की वह एक शमा है।

वह है सुहाग की रानी,
भावमग्न कवि की वह एक मुखरता-वर्जित वाणी।
सरलता ही से उसकी होती मनोरञ्जना,
नीरवता ही करती उसकी पूरी भाव-व्यञ्जना।

अगर कहीं चञ्चलता का प्रभाव कुछ उस पर देखा
तो थी वह प्रियतम के आगे मृदु स्निग्ध हास्य की रेखा

विना अर्थ की —एक प्रेम ही अर्थ—और निष्काम
मधुर बहाती हुई शान्ति-सुख की धारा अविराम।

उसमें कोई चाह नहीं है
विषय-वासना तुच्छ, उसे कोई परवाह नहीं है।

उसकी साधना
केवल निज सरोज-मुख पति को ताकना।

रहें देखते प्रिय को उसके नेत्र निमेष-विहीन,
मधुर भाव की इस पूजा में ही वह रहती लीन।

यौवन-उपवन का पति वसन्त,
है वही प्रेम उसका अनन्त,
है वही प्रेम का एक अन्त।

खुलकर अति प्रिय नीरव भाषा ठण्डी उस चितवन से
क्या जाने क्या कह जाती है अपने जीवन-धन से ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 1 मार्च, 1924 ('हमारी बहू' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

विफल-वासना

गूंथे तप्त अश्रुओं के मैंने कितने ही हार
बैठी हुई पुरातन स्मृति की मलिन गोद पर प्रियतम !
रुद्ध द्वार पर रक्खे थे मैंने कितने ही बार
अपने वे उपहार कृपा के लिए तुम्हारी अनुपम !
मेरे दग्ध हृदय का ही था ताप
प्रभाकर की उन प्रखर किरणों में,
नूपुर-सी मैं बजी तुम्हारे लिए
तुम्हारी अनुरागिनियों के निष्ठुर चरणों में।

हँसता हुआ कभी आया जब
वन में ललित वसन्त,
तरुण विटप सब हुए, लताएँ तरुणी,
और पुरातन पल्लव-दल का
शाखाओं से अन्त,
जब बढ़ीं, अर्घ्य देने को तुमको
हँसतीं वे वल्लरियाँ,
लिये हरे अञ्चल में अपने फूल,
एक प्रान्त में खड़ी हुई मैं,
देख रही थी स्वागत,
चुभते पर हाय नाथ !
मर्मस्थल में जो शूल,
तुम्हें कैसे प्रिय, बतलाऊँ मैं ?
कैसे दुख-गाथा गाऊँ मैं
छिन्न प्रकृति के निर्दय आघातों से हो जाते हैं
जो पुष्प, नहीं कहते कुछ, केवल रो जाते हैं;
वे अपना यौवन-पराग-मधु खो जाते हैं,
अन्तिम श्वास छोड़ पृथ्वी पर सो जाते हैं !
वैसे ही मैंने अपना सर्वस्व गँवाया
रूप और यौवन चिन्ता में, पर क्या पाया ?
प्रेम ? हाय आशा का वह भी स्वप्न एक था
विफल-हृदय तो आज दुःख-ही-दुःख देखता ?
तुम्हे कहूँ मैं, कहो, प्रेममय
अथवा दुख के देव, सदा ही निर्दय ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 15 मार्च, 1924। **परिमल में संकलित**]

प्रिया से

मेरे इस जीवन की है तू सरस साधना कविता,
मेरे तरु की है तू कुसुमित प्रिये, कल्पना-लतिका;
मधुमय मेरे जीवन की प्रिय है तू कमल-कामिनी,
मेरे कुञ्ज-कुटीर-द्वार की कोमल-चरणगामिनी;

नूपुर मधुर बज रहे तेरे,
सब श्रृंगार सज रहे तेरे,

अलक-सुगन्ध मन्द मलयानिल धीरे-धीरे ढोती,
पथ श्रान्त तू सुप्त कान्त की स्मृति में चलकर सोती।
कितने वर्णों में, कितने चरणों में तू उठ खड़ी हुई,
कितने बन्दों में, कितने छन्दों में तेरी लड़ी गयी,
कितने ग्रन्थों में, कितने पन्थों में देखा पढ़ी गयी,

तेरी अनुपम गाथा—
मैंने वन में, अपने मन में
जिसे कभी गाया था।

मेरे कवि ने देखे तेरे स्वप्न सदा अविकार,
नहीं जानती क्यों तू इतना करती मुझको प्यार!
तेरे सहज रूप से रँगकर
झरे गान के मेरे निर्झर

भरे अखिल सर,
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार!

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 29 मार्च, 1924। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

दिल्ली

क्या यह वही देश है—
भीमार्जुन आदि का कीर्तिक्षेत्र,
चिरकुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य दीप्त
उड़ती है आज भी जहाँ के वायुमण्डल में
उज्ज्वल, अधीर और चिरनवीन?—
श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने
गीता-गीत—सिंहनाद—
मर्मवाणी जीवन-संग्राम की—
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग का?

यह वही देश है
परिवर्तित होता हुआ ही देखा गया जहाँ
भारत का भाग्य चक्र ?—
आकर्षण तृष्णा का
खींचता ही रहा जहाँ पृथ्वी के देशों को
स्वर्ण-प्रतिमा की ओर ?—
उठा जहाँ शब्द घोर
संसृति के शक्तिमान दस्युओं का अदमनीय,
पुनः पुनः बर्बरता विजय पाती गयी
सभ्यता पर, संस्कृति पर,
काँपे सदा रे अधर जहाँ रक्तधारा लख
आरक्त हो सदैव।

क्या यह वही देश है—
यमुना-पुलिन से चल
'पृथ्वी' की चिता पर
नारियों की महिमा उस सती संयोगिता ने
किया आहूत जहाँ विजित स्वजातियों को
आत्म-बलिदान से :—
"पढ़ो रे, पढ़ो रे पाठ,
भारत के अविश्वस्त अवनत ललाट पर
निज चिताभस्म का टीका लगाते हुए—'
सुनते ही रहे खड़े भय से विवर्ण जहाँ
अविश्वस्त, संज्ञाहीन, पतित, आत्मविस्मृत नर ?

बीत गये कितने काल
क्या यह वही देश है
बदले किरीट जिसने सैकड़ों महीप-भाल ?
क्या यह वही देश है
सन्ध्या की स्वर्णवर्ण किरणों में
दिग्वधू अलस हाथों से
थी भरती जहाँ प्रेम की मदिरा,—
पीती थीं वे नारियाँ
बैठीं झरोखे में उन्नत प्रासाद के ?—
बहता था स्नेह-उन्माद नस-नस में जहाँ
पृथ्वी की साधना के कमनीय अंगों में ?—

ध्वनिमय ज्यों अन्धकार
दूरगत सुकुमार,
प्रणयियों की प्रिय कथा
व्याप्त करती थी जहाँ
अम्बर का अन्तराल ?
आनन्द-धारा बहती थी शत लहरों में
अधर के प्रान्तों से;
अतल हृदय से उठ

बाँधे युग बाहुओं के
लीन होते थे जहाँ अन्तहीनता में मधुर ?—

अश्रु बह जाते थे
कामिनी के कोरों से
कमल के कोषों से प्रात की ओस ज्यों,
मिलन की तृष्णा से फूट उठते थे फिर,
रँग जाता नया राग ?—
केश-सुख-भार रख मुख प्रिय-स्कन्ध पर
भाव की भाषा से
कहती सुकुमारियाँ थीं कितनी ही बातें जहाँ
रातें विरामहीन करती हुई ?—
प्रिया की ग्रीवा-कपोत बाहुओं से घेर
मुग्ध हो रहे थे जहाँ प्रिय-मुख अनुरागमय ?—

खिलते सरोवर के कमल परागमय
हिलते-डुलते थे जहाँ
स्नेह की वायु से, प्रणय के लोक में
आलोक प्राप्त कर ?
रचे गये गीत,
गये गाये जहाँ कितने राग
देश के, विदेश के !
बहीं धाराएँ जहाँ कितनी किरणों को चूम !
कोमल निषाद भर
उठे वे कितने स्वर !
कितनी वे रातें
स्नेह की बातें रक्खे निज हृदय में
आज भी हैं मौन जहाँ !

यमुना की ध्वनि में
है गूंजती सुहाग-गाथा,
सुनता है अन्धकार खड़ा चुपचाप जहाँ !
आज वह 'फिरदौस'
सुनसान है पड़ा।
शाही दीवान-आम स्तब्ध है हो रहा,
दुपहर को, पार्श्व में,
उठता है झिल्लीरव,
बोलते हैं स्यार रात यमुना-कछार में,
लीन हो गया है रव
शाही अंगनाओं का,
निस्तब्ध मीनार,
मौन हैं मकबरे :—
भय में आशा को जहाँ मिलते थे समाचार,
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं में सच्चा प्यार !

[रचनाकाल : 4 अप्रैल, 1924। 'मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 5 जुलाई और 19 जुलाई, 1924 के अंकों में दो किस्तों में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

प्रगल्भ-प्रेम

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण,
कण्टकाकीर्ण,
कैसे होगी उससे पार !
काँटों में अञ्चल के तेरे तार निकल जायेंगे
और उलझ जायेगा तेरा हार
मैंने अभी-अभी पहनाया
किन्तु नजर-भर देख न पाया—कैसा सुन्दर आया।

मेरे जीवन की तू प्रिये, साधना,
प्रस्तरमय जग में निर्झर बन
उतरी रसाराधना !
मेरे कुञ्ज-कुटीर द्वार पर आ तू
धीरे-धीरे कोमल चरण बढ़ाकर,
ज्योत्स्नाकुल सुमनों की सुरा पिला तू
प्याला शुभ्र करों का रख अधरों पर !
बहे हृदय में मेरे, प्रिय, नूतन आनन्द प्रवाह
सकल चेतना मेरी होए लुप्त
और जग जाये पहली चाह !
लखूं तुझे ही चकित चतुर्दिक
अपनापन मैं भूलूं ।
पड़ा पालने पर मैं सुख से लता-अंक के झूलूं ।

केवल अन्तस्तल में मेरे सुख की स्मृति की अनुपम
धारा एक बहेगी,
मुझे देखती तू कितनी अस्फुट बातें मन ही मन
सोचेगी, न कहेगी !
एक लहर आ मेरे उर में मधुर कराघातों से
देगी खोल हृदय का तेरा चिरपरिचित वह द्वार,
कोमल चरण बढ़ा अपने सिंहासन पर बैठेगी,
फिर अपनी उर की वीणा के उतरे ढीले तार
कोमल-कली उँगलियों से कर सज्जित,
प्रिये, बजायेगी, होंगी सुर-ललनाएँ भी लज्जित !
इमन-रागिनी की वह मधुर तरंग
मीठी थपकी मार करेगी मेरी निद्रा भंग;
जागूंगा जब, सम में समा जायगी तेरी तान
व्याकुल होंगे प्राण,
सुप्त स्वरों के छाये सन्नाटे में
गूंजेगा यह भाव,
मौन छोड़ता हुआ हृदय पर विरह-व्यथित प्रभाव—
क्या जाने वह कैसी थी आनन्द सुरा
अधरों तक आकर
बिना मिटाये प्यास, गयी जो सूख, जलाकर अन्तर !

[‘मतवाला’, साप्ताहिक, कलकत्ता, 5 अप्रैल, 1924। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

उद्‌बोधन

गरज-गरज घन अन्धकार में गा अपने संगीत,
बन्धु, वे बाधा - बन्ध - विहीन,
आँखों में नव जीवन की तू अञ्जन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन।

बार-बार उ़र की वीणा में कर निष्ठुर झंकार
उठा तू भैरव निर्जर राग,
बहा उसी स्वर में सदियों का दारुण हाहाकार
सञ्चरित कर नूतन अनुराग।

बहता अन्ध प्रभञ्जन ज्यों, यह त्योंही स्वर-प्रवाह
मचल कर दे चञ्चल आकाश,
उड़ा उड़ा कर पीले पल्लव, करे सुकोमल राह,—
तरुण तरु; भर प्रसून की प्यास।

काँपे पुनर्वार पृथ्वी शाखा-कर-परिणय-माल,
सुगन्धित हो रे फिर आकाश,
पुनर्वार गायें नूतन स्वर, नव कर से दे ताल,
चतुर्दिक छा जाये विश्वास।

मन्द्र उठा तू बन्द-बन्द पर जलने वाली तान
विश्व की नश्वरता कर नष्ट,
जीर्ण-शीर्ण जो, दीर्ण धरा में प्राप्त करे अवसान,
रहे अवशिष्ट सत्य जो स्पष्ट।

ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय-कपाट,
खोल दे कर-कर कठिन प्रहार,
आये अभ्यन्तर संयत चरणों से नव्य विराट,
करे दर्शन, पाये आभार।

छोड़, छोड़ दे शंकाएँ, रे निर्झर-गर्जित वीर !
उठा केवल निर्मल निर्घोष,
देख सामने, बना अचल उपलों को उत्पल, धीर !
प्राप्त कर फिर नीरव सन्तोष !

भर उद्दाम वेग से बाधाहर तू कर्कश प्राण
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,
किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव-गान,
एक कर दे पृथ्वी - आकाश।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 12 अप्रैल, 1924 ('गा अपने संगीत' शीर्षक से) द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

खोज और उपहार

चकित चितवन कर अन्तर पार,
खोजती अन्तरतम का द्वार
बालिका - सी व्याकुल सुकुमार
लिपट जाती जब कर अभिमान—

अश्रु - सिञ्चित दृग दोनों मींच,
कमल - कर कोमल - कर से खींच,
मृदुल पुलकित उर से उर सींच,
देखती किसकी छवि अनजान?

ग्रीष्म का ले मृदु रवि-कर-तार,
गूंथ वर्षा - जल - मुक्ता - हार,
शरत की शशि - माधुरी अपार
उसी में भर देती धर ध्यान;

सिक्त हिम - कण से छन-छन वात,
शीत में कर रक्खा अज्ञात,
वसन्ती सुमन - सुरभि भर प्रात
बढ़ाया था किसका सम्मान?

तुम्हें कवि पहनायी माला,
देखती तुमको वह बाला।

[**'मतवाला'**, साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 अप्रैल, 1924। **परिमल** में संकलित]

तरंगों के प्रति

किस अनन्त का नीला अंचल हिला-हिलाकर
आती हो तुम सजी मण्डलाकार ?
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिलाकर
गाती हो ये कैसे गीत उदार ?
सोह रहा है हरा क्षीण कटि में, अम्बर शैवाल,
गाती आप, आप देती सुकुमार करों से ताल।
चंचल चरण बढ़ाती हो,
किससे मिलने जाती हो ?
तैर तिमिर-तल भुज-मृणाल से सलिल काटती,
आपस में ही करती हो परिहास,
हो मरोरती गला शिला का कभी डाँटती,
कभी दिखाती जगती-तल को त्रास,
गन्ध-मन्द गति कभी पवन का मौन-भंग उच्छ्वास
छाया-शीतल तट-तल में आ तकती कभी उदास,
क्यों तुम भाव बदलती हो—
हँसती हो, कर मलती हो ?
बाँहें अगणित बढ़ी जा रहीं हृदय खोलकर
किसके आलिंगन का है यह साज ?
भाषा में तुम पिरो रही हो शब्द तोलकर,
किसका यह अभिनन्दन होगा आज ?
किसके स्वर में आज मिला दोगी वर्षों का गान,
आज तुम्हारा किस विशाल वक्षःस्थल में अवसान ?
आज जहाँ छिप जाओगी,
फिर न हाय तुम गाओगी !
बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी,
दग्ध चिता के कितने हाहाकार !
नश्वरता की—थीं सजीव जो—कृतियाँ कितनी,
अबलाओं की कितनी करुण पुकार !
मिलन-मुखर तट की रागिनियों का निर्भय गुंजार,
शंकाकुल कोमल मुख पर व्याकुलता का संचार,
उस असीम में ले जाओ,
मुझे न कुछ तुम दे जाओ !

[‘मतवाला’, साप्ताहिक, कलकत्ता, 10 मई, 1924 (‘तरंगों से’ शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

क्या दूँ ?

देवि, तुम्हें मैं क्या दूँ ?

क्या है, कुछ भी नहीं, ढो रहा व्यर्थ साधना-भार,
एक विफल रोदन का है यह हार—एक उपहार;
भरे आँसुओं में हैं, असफल कितने विकल प्रयास,
झलक रही है मनोवेदना, करुणा, पर-उपहास;

क्या चरणों पर ला दूँ ?
और तुम्हें मैं क्या दूँ ?

जड़े तुम्हारे चल अञ्चल में चमक रहे हैं रत्न,
बरस रही माधुरी, चातुरी, कितना सफल प्रयत्न;
कवियों ने चुन-चुन पहनाये तुमको कितने हार,
वहाँ हृदय की हार—आँसुओं का अपना उपहार;

कैसे देवि, चढ़ा दूँ ?
कहो, और मैं क्या दूँ ?

स्वयं बढ़ा दो ना तुम करुणा-प्रेरित अपने हाथ,
अन्धकार उर को कर दो रवि-किरणों का प्लुत प्रात;
पहनो यह माला मा, उर में मेरे ये सङ्गीत,
खेलें उज्ज्वल, जिनसे प्रतिपल थी जनता भयभीत;

क्या मैं इसे बढ़ा दूँ ?
और तुम्हें मैं क्या दूँ ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 24 मई, 1924। **परिमल** में संकलित]

क्या गाऊँ ?

क्या गाऊँ ?—माँ ! क्या गाऊँ ?

गूँज रही हैं जहाँ राग-रागिनियाँ,
गाती हैं किन्नरियाँ—कितनी परियाँ—
कितनी पंचदशी कामिनियाँ,
वहाँ एक यह लेकर वीणा दीन
तन्त्री-क्षीण,— नहीं जिसमें कोई झंकार नवीन,
रुद्ध कण्ठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ ?
माँ ! क्या गाऊँ !

छाया है मन्दिर में तेरे यह कितना अनुराग !
चढ़ते हैं चरणों पर कितने फूल
मृदु-दल, सरस-पराग;
गन्ध-मोद-मद पीकर मन्द समीर
शिथिल चरण जब कभी बढ़ाती आती,
सजे हुए बजते उसके अधीर नूपुर-मंजीर !
वहाँ एक निर्गन्ध कुसुम उपहार,
कहीं-कहीं जिसमें पराग-संचार सुरभि-संसार
कैसे भला चढ़ाऊँ ?—
माँ ! क्या गाऊँ ?

['कवीन्द्र', मासिक, कानपुर, ज्येष्ठ, संवत् 1981 वि. (मई-जून, 1924)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

प्रपात के प्रति

अचल के चंचल क्षुद्र प्रपात !
मचलते हुए निकल आते हो;
उज्ज्वल ! घन-वन-अन्धकार के साथ
खेलते हो क्यों ? क्या पाते हो ?

अन्धकार पर इतना प्यार,
क्या जाने यह बालक का अविचार
बुद्ध का या कि साम्य - व्यवहार !
तुम्हारा करता है गतिरोध
पिता का कोई दूत अबोध—
किसी पत्थर से टकराते हो
फिरकर जरा ठहर जाते हो;
उसे जब लेते हो पहचान—
समझ जाते हो उस जड़ का सारा अज्ञान,
फूट पड़ती है ओठों पर तब मृदु मुस्कान;
बस अजान की ओर इशारा करके चल देते हो,
भर जाते हो उसके अन्तर में तुम अपनी तान।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 7 जून, 1924। **परिमल** में संकलित]

प्रथम प्रभात

प्रथम चकित चुम्बन - सी सिहर समीर,
कँपा त्रस्त अम्बर के छोर,
उठा लाज की सरस हिलोर,
ऊषा के अधरों में अरुण अधीर,
भर मुग्धा की चितवन में अनजान,
तरुण - अरुण - यौवन - प्रभात - विज्ञान,
प्रथम सुरभि में भर उन्माद - विकास
अभी - अभी आयी थी मेरे पास।
वातायन में कर कोमल आघात
स्वप्न - जटित जीवन - कैशोर,
उच्छृंखलता की गह डोर,
खींच रही थी अपनी ओर,—अजात
निर्झरिणी की - सी विकास की लास—
गिरि - गह्वर में फूट रही सोच्छ्वास।
जगकर मैंने खोला अपना द्वार,
पाया मुख पर किरणों का अधिकार।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 7 जून, 1924। **परिमल** में संकलित]

सिर्फ़ एक उन्माद

सिर्फ़ एक उन्माद;
न था वह यौवन का अनुराग
किन्तु यौवन ही-सा उच्छृंखल,
न चंचल शिशुता का अवसाद
किन्तु शिशु ही-सा था वह चंचल;
न कोई पाया उसमें राग
जिसे गाते जीवन-भर,
न कोई ऐसा तीव्र विराग
जिसे पा कहीं भूलते अपनापन यह क्षण-भर।
अपने लिए घोर उत्पीड़न,
किन्तु क्रीड़नक था लोगों के लिए,
पक्षी का-सा जीवन
हँसमुख किन्तु ममत्वहीन निर्दय बालों के लिए,
निरलङ्कार कवित्व अनर्गल
किसी महाकवि-कलित-कण्ठ से
झरता था जैसे अविराम कुसुम-दल।
जन-अपवाद गूँजता था, पर दूर,
क्योंकि उसे कब फुर्सत—सुनता ?—था वह चूर।
न देखा उसमें कभी विषाद,
देखा सिर्फ़ एक उन्माद।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 14 जून, 1924। **परिमल में संकलित**]

जागी

यौवन-मरु की पहली ही मंजिल में
अस्थिर एक किरण-सी झलकी आशा,
मैं क्या जानूँ, है यह जितनी सुन्दर,
भरी हुई उतनी ही तीव्र पिपासा।

छिपकर आयी, क्या जाने क्यों आयी,
शायद सब पर ऐसे ही आती है।
चमक चौंककर चकचौंधी में सबको
डाल, खींचकर बल से ले जाती है।

तृष्णा मुझमें ऐसे ही आयी थी,
सूखा था जब कण्ठ, बढ़ी थी मैं भी,
बार-बार छाया में धोखा खाया,
पर हरने पर प्यास, पड़ी थी मैं भी।

धीरे - धीरे एक बाग में आयी,
भरा हुआ तालाब एक था पाया।
दूर देख कुछ सोयी मैं छाया में,
जागी तब न प्यास थी और न माया।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 14 जून, 1924। **परिमल** में संकलित]

सन्तप्त

अपने अतीत का ध्यान
करता मैं गाता था गाने भूले अम्रियमाण!
एकाएक क्षोभ का अन्तर में होते सञ्चार
उठी व्यथित उँगली से कातर एक तीव्र झंकार,
विकल वीणा के टूटे तार!

मेरा आकुल क्रन्दन,
व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर
वायु में भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर।

मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर,
सदा अधीर,
मेरे ही बन्धन से निश्चल
नन्दन-कुसुम-सुरभि-मधु-मदिर समीर,

मेरे गीतों का छाया अवसाद,
देखा जहाँ, वहीं है करुणा,
घोर विषाद !

"ओ मेरे !—मेरे बन्धन - उन्मोचन !
ओ मेरे !—ओ मेरे क्रन्दन - वन्दन !"
ओ मेरे अभिनन्दन !
ये सन्तप्त लिप्त कब होंगे गीत,
हृत्तल में तव जैसे शीतल चन्दन !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 21 जून, 1924। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

भर देते हो

भर देते हो
बार-बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
मेरे अन्तर में आते हो देव निरन्तर,
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर-कञ्ज बढ़ाकर;
अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अञ्चल को
करता है क्षण-क्षण—
कुसुम-कपोलों पर वे लोल शिशिर-कण;
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो,
नव प्रभात जीवन में भर देते हो।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 21 जून, 1924। **परिमल** में संकलित]

आदान-प्रदान

कठिन शृंखला बजा - बजाकर
गाता हूँ अनीत के गान,
मुझ भूले पर उस अतीत का
क्या ऐसा ही होगा ध्यान?
शिशु पाते हैं माताओं के
वक्ष:स्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पातीं शिशु के
अधरों पर अपनी मुसकान।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 21 जून, 1924। **परिमल** में संकलित]

कण

तुम तो अखिल विश्व में
या यह अखिल विश्व है तुममें,
अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ तुममें भेद अनेक?
विंदु! विश्व के तुम कारण हो
या यह विश्व तुम्हारा कारण?
कार्य पंचभूतात्मक तुम हो
या कि तुम्हारे कार्य भूतगण?
आवर्तन-परिवर्तन के तुम नायक नीति-निधान
परिवर्तन ही या कि तुम्हारा
भाग्य-विधायक है बलवान?
पाया हाय न अब तक इसका भेद,
सुलझी नहीं ग्रन्थि मेरी, कुछ मिटा न खेद!
कभी देखता अट्टालिका-विनोद मोद में
बैठे महाराज तुम दिव्य-शरीर,
कभी देखता, मार्ग-मृत्तिका-मलिन गोद में
हो कहराते व्याधि विशीर्ण अधीर;

कभी परागों में फुर-फुर उड़ते हो,
और कभी आँधी में पड़ कुढ़ते हो;
क्या जाने क्यों कभी हास्यमय
और कभी जब आता असमय
क्यों भरते दुख-नीर !
ताक रहे आकाश,
बीत गये कितने दिन—कितने मास !
विरह-विधुर उर में न मधुर आवेश,
केवल शेष
क्षीण हुए अन्तर में है आभास,
प्रिय-दर्शन की प्यास;
ताक रहे आकाश,
बीत गये कितने दिन—कितने मास !
पड़े हुए सहते हो अत्याचार
पद-पद पर सदियों के पद-प्रहार;
बदले में, पद में कोमलता लाते,
किन्तु हाय. वे तुम्हें नीच ही हैं कह जाते !
तुम्हें नहीं अभिमान,
छूटे कहीं न प्रिय का ध्यान,
इससे सदा मौन रहते हो,
क्यों रज, विरज के लिए ही इतना सहते हो ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 28 जून, 1924। **परिमल** में संकलित]

यमुना के प्रति

स्वप्नों-सी उन किन आँखों की
पल्लव-छाया में अम्लान
यौवन की माया - सा आया
मोहन का सम्मोहन ध्यान ?

गन्धलुब्ध किन अलिबालों के
मुग्ध हृदय का मृदु गुञ्जार
तेरे दृग-कुसुमों की सुषमा
जाँच रहा है वारम्वार ?

यमुने, तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक - प्रिया - सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान ?

बता, कहाँ अब वह वंशीवट ?
कहाँ गये नटनागर श्याम ?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम ?

कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम-विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछतीं वे दृग - नीर ?

रञ्जित सहज सरल चितवन में
उत्कण्ठित सखियों का प्यार
क्या आँसू-सा ढुलक गया वह
विरह-विधुर उर का उद्गार ?

तू किस विस्मृत की वीणा से
उठ-उठकर कातर झङ्कार
उत्सुकता से उकता - उकता
खोल रही स्मृति के दृढ़ द्वार ?

अलस प्रेयसी - सी स्वप्नों में
प्रिय की शिथिल सेज के पास
लघु लहरों के मधुर स्वरों में
किस अतीत का गूढ़ विलास ?

उर - उर में नूपुर की ध्वनि - सी
मादकता की तरल तरङ्ग
विचर रही है मौन पवन में
यमुने, किस अतीत के संग ?

किस अतीत का दुर्जन जीवन
अपनी अलकों में सुकुमार
कनक - पुष्प - सा गूँथ लिया है—
किसका है यह रूप अपार ?

निर्निमेष नयनों में छाया
किस विस्मृति - मदिरा का राग
जो अब तक पुलकित पलकों से
छलक रहा यह विपुल सुहाग ?

मुक्त हृदय के सिंहासन पर
किस अतीत के ये सम्राट
दीप रहे जिनके मस्तक पर
रवि - शशि - तारे - विश्व - विराट ?

निखिल विश्व की जिज्ञासा - सी
आशा की तू झलक, अमन्द
अन्तःपुर की निज शय्या पर
रच - रच मृदु छन्दों के बन्द

किस अतीत के स्नेह - सुहृद को
अर्पण करती तू निज ध्यान—
ताल - ताल के कम्पन से द्रुत
बहते हैं ये किसके गान ?

विहगों की निद्रा से नीरव
कानन के संगीत अपार,
किस अतीत के स्वप्न - लोक में
करते हैं मृदु - पद - संचार ?

मुग्धा के लज्जित पलकों पर
तू यौवन की छवि अज्ञात,
आँख - मिचौनी खेल रही है
किस अतीत शिशुता के साथ ?

किस अतीत सागर - संगम को
बहते खोल हृदय के द्वार
बोहित के हित सरल अनिल-से
नयन - सलिल के स्रोत अपार ?

उस सलज्ज ज्योत्स्ना-सुहाग की
फेनिल शय्या पर सुकुमार,
उत्सुक, किस अभिसार निशा में
गयी कौन स्वप्निल पर मार ?

उठ - उठकर अतीत - विस्मृति से
किसकी स्मिति यह—किसका प्यार,
तेरे श्याम कपोलों में खुल
कर जाती है चकित विहार ?

जीवन की इस सरस सुरा में,
कह, यह किसका मादक राग
फूट पड़ा तेरी ममता में
जिसकी समता का अनुराग ?

किन नियमों के निर्मम बन्धन
जग की संसृति का परिहास
कर बन जाते करुणा - क्रन्दन ?—
कह, वे किसके निर्दय पाश ?

कलियों की मुद्रित पलकों में
सिसक रही जो गन्ध अधीर
जिसकी आतुर दुख - गाथा पर
ढुलकाते पल्लव - दृग नीर,

बता, करुण - कर - किरण बढ़ाकर
स्वप्नों का सचित्र संसार
आँसू पोंछ दिखाया किसने
जगती का रहस्यमय द्वार ?

जागृति के नव इस जीवन में
किस छाया का माया - मन्त्र
गूंज - गूंज मृदु खींच रहा है
अति, दुर्बल जन का मन - यन्त्र ?

अलि - अलकों के तरल तिमिर में
किसकी लोल लहर अज्ञात
जिसके गूढ़ मर्म में निश्चित
शशि - सा मुख, ज्योत्स्ना-सी गात ?

कह, सोया किस खञ्जन - वन में
उन नयनों का अञ्जन - राग ?
बिखर गये अब किन पातों में
वे कदम्ब - मुख - स्वर्ण - पराग ?

चमक रहे अब किन तारों में
उन हीरों के मुक्ता - हीर ?
बजते हैं उन किन चरणों में
अब अधीर नूपुर - मञ्जीर ?

किस समीर से काँप रही वह
वंशी की स्वर - सरित - हिलोर ?
किस वितान से तनी प्राण तक
छू जाती वह करुण मरोर ?

खींच रही किस आशा - पथ पर
यौवन की वह प्रथम पुकार ?
सींच रही लालसा - लता निज
किस कङ्कण की मृदु झङ्कार ?

उमड़ चला है कह किस तट पर
क्षुब्ध प्रेम का पारावार ?
किसकी विकच वीचि-चितवन पर
अब होता निर्भय अभिसार ?

भटक रहे हैं किसके मृग - दृग ?
बैठी पथ पर कौन निराश ?—
मारी मरु - मरीचिका की - सी
ताक रही उदास आकाश।

हिला रहा अब कुञ्जों के किन
द्रुम - पुञ्जों का हृदय कठोर
विगलित विफल वासनाओं से
क्रन्दन - मलिन पुलिन का रोर ?

किस प्रसाद के लिए बढ़ा अब
उन नयनों का विरस विषाद ?
किस अजान में छिपा आज वह
श्याम गगन का घन उन्माद ?

कह, किस अलस मराल - चाल पर
गूँज उठे सारे सङ्गीत,
पद - पद के लघु ताल - ताल पर
गति स्वच्छन्द, अजीत अभीत ?

स्मिति - विकसित नीरज नयनों पर
स्वर्ण - किरण - रेखा अम्लान
साथ - साथ प्रिय तरुण अरुण के
अन्धकार में छिपी अजान !

किस दुर्गम गिरि के कन्दर में
डूब गया जग का निःश्वास ?
उतर रहा अब किस अरण्य पर
दिनमणि - हीन अस्त आकाश ?

आप आ गया प्रिय के कर में
कह, किसका वह कर सुकुमार
विटप - विहग ज्यों फिरा नीड़ में
सहम तमिस्र देख संसार ?

स्मर - सर के निर्मल अन्तर में
देखा था जो शशि प्रतिभात,
छिपा लिया है उसे जिन्होंने
हैं वे किस घन वन के पात ?

कहाँ आज वह निद्रित जीवन
बँधा बाहुओं में भी मुक्त ?
कहाँ आज वह चितवन चेतन
श्याम - मोह - कज्जल अभियुक्त ?

वह नयनों का स्वप्न मनोहर
हृदय - सरोवर का जलजात,
एक चन्द्र निस्सीम व्योम का,
वह प्राची का विमल प्रभात,

वह राका की निर्मल छवि, वह
गौरव रवि, कवि का उत्साह,
किस अतीत से मिला आज वह
यमुने, तेरा सरस प्रवाह ?

खींच रहा है मेरा मन वह
किस अतीत का इंगित मौन
इस प्रसुप्ति से जगा रही जो
बता, प्रिया-सी है वह कौन ?

वह अविकार निविड़-सुख-दुख-गृह,
वह उच्छृंखलता उद्दाम,
वह संसार भीरु - दृग - संकुल,
ललित - कल्पना - गति अभिराम,

वह वर्षों का हर्षित क्रीड़न,
पीड़न का चञ्चल संसार,
वह विलास का लास - अङ्क, वह
भृकुटि कुटिल प्रिय - पथ का पार;

वह जागरण मधुर अधरों पर,
वह प्रसुप्ति नयनों में लीन,
मुग्ध मौन मन में उन्मुख सुख
आकर्षणमय नित्य नवीन,

वह सहसा सजीव कम्पन-द्रुत
सुरभि - समीर, अधीर वितान,
वह सहसा स्तम्भित वक्षःस्थल,
टलमल पद, प्रदीप निर्वाण;

गुप्त-रहस्य-सृजन-अतिशय श्रम,
वह क्रम-क्रम से सञ्चित ज्ञान,
स्खलित-वसन-तनु-सा तनु अमरण,
नग्न, उदास, व्यथित अभिमान;

वह मुकुलित लावण्य लुप्तमधु,
सुप्त पुष्प में विकल विकास,
वह सहसा अनुकूल प्रकृति के
प्रिय दुकूल में प्रथम प्रकाश;

वह अभिराम कामनाओं का
लज्जित उर, उज्ज्वल विश्वास,
यह निष्काम दिवा - विभावरी,
वह स्वरूप - मद - मञ्जुल हास;

वह सुकेश - विस्तार कुञ्ज में
प्रिय का अति उत्सुक सन्धान,
तारों के नीरव समाज में
यमुने, यह तेरा मृदु गान;

वह अतृप्त - आग्रह से सिञ्चित
विरह - विटप का मूल मलीन
अपने ही फूलों से वंचित
वह गौरव - कर निष्प्रभ, क्षीण;

वह निशीथ की नग्न वेदना,
दिन की दम्य दुराशा आज
कहाँ अँधेरे का प्रिय परिचय,
कहाँ दिवस की अपनी लाज?

उदासीनता गृह-कर्मों में,
मर्म-मर्म में विकसित स्नेह,
निरपराध हाथों में छाया
अञ्जन-रञ्जन-भ्रम, सन्देह;

विस्मृत-पथ-परिचायक स्वर से
छिन्न हुए सीमा-दृढ़ पाश,
ज्योत्सना के मण्डप में निर्भय
कहाँ हो रहा है वह रास?

वह कटाक्ष-चञ्चल यौवन-मन
वन-वन प्रिय-अनुसरण-प्रयास,
वह निष्पलक सहज चितवन पर
प्रिय का अचल अटल विश्वास;

अलक-सुगन्ध-मदिर सरि-शीतल
मन्द अनिल, स्वच्छन्द प्रवाह,
वह विलोल हिल्लोल चरण, कटि,
भुज, ग्रीवा का वह उत्साह;

मत्त-भृंग-सम सङ्ग-सङ्ग तम-
तारा मुख-अम्बुज-मधु-लुब्ध,
विकल विलोड़ित चरण-अंक पर
शरण-विमुख नूपुर-उर क्षुब्ध;

वह संगीत विजय-मद-गर्वित
नृत्य-चपल अधरों पर आज,
वह अजीत-इङ्गित मुखरित-मुख
कहाँ आज वह मुखमय साज?

वह अपनी अनुकूल प्रकृति का
फूल, वृन्त पर विकच अधीर,
वह उदार, संवाद विश्व का
वह अनन्त नयनों का नीर,

वह स्वरूप - मध्याह्न - तृषा का
प्रचुर आदि - रस, वह विस्तार
सफल प्रेम का, जीवन के वह
दुस्तर सर - सागर का पार;

वह अञ्जलि कलिका की कोमल,
वह प्रसून की अन्तिम दृष्टि,
वह अनन्त का ध्वंस सान्त, वह
सान्त विश्व की अगणित सृष्टि;

वह विराम-अलसित पलकों पर
सुधि की चञ्चल प्रथम तरङ्ग,
वह उद्दीपन, वह मृदु कम्पन
वह अपनापन, वह प्रिय - सङ्ग;

वह अज्ञात पतन लज्जा का
स्खलन शिथिल घूँघट का देख
हास्य-मधुर निर्लज्ज उक्ति वह,
वह नव यौवन का अभिषेक;

मुग्ध रूप का वह क्रय - विक्रय,
वह विनिमय का निर्दय भाव,
कुटिल करों को सौंप सुहृद-मन,
वह विस्मरण, मरण, वह चाव,

असफल छल की सरल कल्पना,
ललनाओं का मृदु उद्गार
बता, कहाँ विक्षुब्ध हुआ वह
दृढ़ यौवन का पीन उभार;

उठा तूलिका मृदु चितवन की,
भर मन की मदिरा में मौन,
निर्निमेष नभ - नील - पटल पर
अटल खींचती छवि, वह कौन ?

कहाँ यहाँ अस्थिर तृष्णा का
वहता अब वह स्रोत अजान ?
कहाँ हाय निरुपाय तृणों से
बहते अब वे अगणित प्राण ?

नहीं कहीं नयनों में पाया
नहीं समाया वह अपराध,
कहाँ, कहाँ अधिकृत अधरों पर
उठता वह सङ्गीत अबाध ?

मिली विरह के दीर्घ श्वास से
बहती नहीं कहीं बातास,
कहाँ सिसककर मलिन मर्म में
मुरझा जाता है निःश्वास ?

कहाँ छलकते अब वैसे ही
व्रज - नागरियों के गागर ?
कहाँ भीगते अब वैसे ही
बाहु, उरोज, अधर, अम्बर ?

बँधा बाहुओं में घट क्षण- क्षण
कहाँ प्रकट बकता अपवाद ?
अलकों को, किशोर पलकों को
कहाँ वायु देती संवाद ?

कहाँ कनक - कोरों के नीरव
अश्रु - कणों में भर मुसकान,
विरह - मिलन के एक साथ ही
खिल पड़ते वे भाव महान !

कहाँ सूर के रूप - बाग के
दाड़िम, कुन्द, विकच अरविन्द,
कदली, चम्पक, श्रीफल, मृगशिशु
खंजन, शुक, पिक, हंस, मिलिन्द !

एक रूप में कहाँ आज वह
हरि - मृग का निर्वैर विहार,
काले नागों से मयूर का
बन्धु - भाव, सुख सहज अपार !

पावस की प्रगल्भ धारा में
कुञ्जों का वह कारागार,
अब जग के विस्मित नयनों में
दिवस - स्वप्न - सा पड़ा असार !

द्रव - नीहार अचल - अधरों से
गल-गल गिरि - उर के सन्ताप,
तेरे तट से अटक रहे थे
करते अब सिर पटक विलाप;

विवश दिवस के - से आवर्तन
बढ़ते हैं अम्बुधि की ओर,
फिर-फिर फिर भी ताक रहे हैं
कोरों में निज नयन मरोर !

एक रागिनी रह जाती जो
तेरे तट पर मौन उदास,
स्मृति-सी भग्न भवन की, मन को
दे जाती अति क्षीण प्रकाश।

टूट रहे हैं पलक - पलक पर
तारों के ये जितने तार,
जग के अब तक के रागों से
जिनमें छिपा पृथक् गुञ्जार,

उन्हें खींच निस्सीम व्योम की
वीणा में कर - कर झङ्कार,
गाते हैं अविचल आसन पर
देवदूत जो गीत अपार,

कम्पित उनके करुण करों में
तारक तारों की - सी तान,
बता, बता, अपने अतीत के
क्या तू भी गाती है गान ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 5 जुलाई, 12 जुलाई, 26 जुलाई, 16 अगस्त और 23 अगस्त, 1924 के अंकों में पाँच किस्तों में प्रकाशित ('यमुने !' शीर्षक से) । **परिमल** में संकलित]

ध्वनि

अभी न होगा मेरा अन्त।
अभी - अभी ही तो आया है
मेरे वन में मृदुल वसन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त।

हरे - हरे ये पात,
डालियाँ, कलियाँ कोमल गात।
मैं ही अपना स्वप्न-मृदुल-कर
फेरूँगा निद्रित कलियों पर
जगा एक प्रत्यूष मनोहर।

पुष्प-पुष्प से तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं,
अपने नव-जीवन का अमृत सहर्ष सींच दूँगा मैं,

द्वार दिखा दूँगा फिर उनको
हैं मेरे वे जहाँ अनन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त।

मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण,
इसमें कहाँ मृत्यु
है जीवन ही जीवन।
अभी पड़ा है आगे सारा यौवन;
स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक-मन;

मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 12 जुलाई, 1924 ('अपनी-ध्वनि' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

आग्रह

माँ, मुझे वहाँ तू ले चल !

देखूंगा वह द्वार—
दिवस का पार—
मूर्च्छित हुआ पड़ा है जहाँ
वेदना का संसार !
वेदना का संसार,
करती है तटिनी तरणी से छल-बल—
मुझे वहाँ तू ले चल !

उतर रही है लिये हाथ में प्यारा तारा-दीप
उस अरण्य में बढ़ा रही है पैर, सभीत,
बता, कौन वह ?
किसका है वह अन्धकार का अञ्चल—
मुझे वहाँ तू ले चल !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 12 जुलाई, 1924। **परिमल** में संकलित]

बादल-राग

[1]

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित—तड़ित-गति—चकित पवन में
मन में, विजय-गहन-कानन में,
आनन-आनन में, रव-घोर-कठोर—
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू, बरस-बरस रसधार !
पार ले चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन-भैरव-संसार !
उथल-पुथल कर हृदय
मचा हलचल—
चल रे चल,—
मेरे पागल बादल !
धँसता दलदल,
हँसता है नद खल्-खल्
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल।
देख-देख नाचता हृदय
बहने को महाविकल—बेकल,
इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे—गगन का दिखा सघन वह छोर !
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

[2]

ऐ निर्बन्ध !
अन्ध-तम-अगम-अनर्गल—बादल !

ऐ स्वच्छन्द !
मन्द-चञ्चल-समीर-रथ पर उच्छृंखल !
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधारहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन-घोर गगन के
ऐ सम्राट !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़नेवाले—उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़नेवाले—अपवाद !
श्री बिखेर, मुख-फेर कली के निष्ठुर पीड़न !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्र-घोष से ऐ प्रचण्ड !
आतंक जमानेवाले !
कम्पित जंगम,—नीड़-विहंगम,
ऐ न व्यथा पानेवाले !
भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !

[3]

सिन्धु के अश्रु !
धरा के खिन्न दिवस के दाह !
बिदाई के अनिमेष नयन !
मौन उर में चिह्नित कर चाह
छोड़ अपना परिचित संसार—
सुरभि का कारागार,
चले जाते हो सेवा-पथ पर,
तरु के सुमन !
सफल करके
मरीचिमाली का चारु चयन ।
स्वर्ग के अभिलाषी हे वीर,
सव्यसाची-से तुम अध्ययन-अधीर
अपना मुक्त विहार,
छाया में दुख के अन्तःपुर का उद्घाटित द्वार
छोड़ बन्धुओं के उत्सुक नयनों का सच्चा प्यार,
जाते हो तुम अपने पथ पर,

स्मृति के गृह में रखकर
अपनी सुधि के सज्जित तार ।
पूर्ण-मनोरथ ! आये-—
तुम आये;
रथ का घर्घर-नाद
तुम्हारे आने का संवाद ।
ऐ त्रिलोक-जित् ! इन्द्र-धनुर्धर !
सुरबालाओं के सुख-स्वागत !
विजय ! विश्व में नवजीवन भर,
उतरो अपने रथ से भारत !
उस अरण्य में बैठी प्रिया अधीर,
कितने पूजित दिन अब तक हैं व्यर्थ,
मौन कुटीर ।
आज भेंट होगी—
हाँ, होगी निस्सन्देह,
आज सदा-सुख-छाया होगा कानन-गेह
आज अनिश्चित पूरा होगा श्रमित प्रवास,
आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास ।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 26 जुलाई, 2 अगस्त और 9 अगस्त, 1924 के अंकों में क्रमशः प्रकाशित । **परिमल** में संकलित]

स्वागत

कितने ही विघ्नों का जाल
जटिल, अगम, विस्तृत पथ पर विकराल;
कण्टक, कर्दम, भय-श्रम-निर्मम कितने शूल;
हिंस्र निशाचर, भूधर, कन्दर पशु-संकुल
पथ घन-तम, अगम अकूल—
पार—पार करके आये, हे नूतन !
सार्थक जीवन ले आये
श्रम-कण में बन्धु, सफल-श्रम !

सिर पर कितना गरजे
वज्र-बादल,
उपल-वृष्टि, फिर शीत घोर, फिर ग्रीष्म प्रबल।
साधक, मन के निश्चल,
पथ के सचल,
प्रतिज्ञा के हे अचल अटल !
पथ पूरा करके आये तुम,
स्वागत ऐ प्रिय-दर्शन,
आये, नव-जीवन भर लाये।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 16 अगस्त, 1924। **परिमल में संकलित**]

स्वाधीनता पर [1]

स्वाधीन—
स्वाधीन है यह विश्व
अथवा है पराधीन ?
आज तक कितने ही गूढ़ मस्तिष्कों में
आया यह प्रश्न,
पर उत्तर अज्ञात—
अज्ञात ही बना रहा !
पल्लव झड़ते हैं जब
तरु के अति जीर्ण तनु को देखते हैं एक बार,
किन्तु शास्त्र कहते हैं—
"गमन और आगम का
चक्रवत् परिवर्तन नियम है अविनाशी;
पल्लव जब आये थे,
आये स्वाधीन;
जाते हैं अपनी ही इच्छा से मुक्त—स्वाधीन।"
मुक्त स्वाधीन !
मर्मर में रोते हैं कौन फिर ?—
हैं वे स्वाधीन
तो क्यों फिर सुनाते हैं करुणा-राग ?

माया है,
माया क्या ?
माया नहीं जानता मैं,···
जानता हूँ एक बस स्वाधीन शब्द।
बहती है समीर,
पुष्प के शून्य उर में लेती स्वाधीन साँस,
पाती है सुरभि स्वाधीन गति।···
आवर्तन-परिवर्तन-नर्तन-सुखकीर्तन में,—
विपुल उल्लासमय विश्व के क्षण-क्षण में,—
भूधर महान और क्षुद्र कण-कण में
एक स्वाधीनता का गूँजता है विपुल हर्ष।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 23 अगस्त, 1924। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

स्वाधीनता पर [2]

भ्रमर का गुंजार,
वह भी स्वाधीन;
पक्षियों का कलरव,
वह भी स्वाधीन;
उदय-अस्त दिनकर का,
तिमिर-हर के अन्तर से
तिमिर का उद्गम
और तम के हृदय से
निशानाथ का प्रकाश,
सब है स्वाधीन,···
मेरे साथ मेरे विचार—
मेरे जाति—
मेरे पददलित—
मौन हैं—निद्रित हैं—
स्वप्न में भी पराधीन !

कितनी बड़ी दुर्बलता !
आता जब भूमिकम्प,
कौन रोक सकता है उसकी गति ?
गरज उठते जब मेघ,
कौन रोक सकता है विपुल नाद ?
उपल-दल
नष्ट जब करते हैं श्याम शस्य,
कौन-सी व्यवस्था वह
रोक रखती है उन्हें ?
समझा मैं,
भय ही व्यवस्था का जनक है,
निर्भय अपने को
और दुर्बल समाज को
करके दिखाना है—
'स्वाधीन' का ही
एक और अर्थ 'निर्भय' है ।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 30 अगस्त, 1924। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

बादल-राग

[4]

उमड़ सृष्टि के अन्तहीन अम्बर से,
घर से क्रीड़ारत बालक-से,
ऐ अनन्त के चञ्चल शिशु सुकुमार !
स्तब्ध गगन को करते हो तुम पार ।
अन्धकार—घन अन्धकार ही
क्रीड़ा का आगार ।
चौंक चमक छिप जाती विद्युत
तडिद्दाम अभिराम,
तुम्हारे कुञ्चित केशों में
अधीर विक्षुब्ध ताल पर
एक इमन का-सा अति मुग्ध विराम ।

वर्ण रश्मियों-से कितने ही
छा जाते हैं मुख पर—
जग के अन्तस्थल से उमड़
नयन-पलकों पर छाये सुख पर;
रंग अपार
किरण-तूलिकाओं से अंकित
इन्द्रधनुष के सप्तक, तार;—
व्योम और जगती के राग उदार
मध्यदेश में, गुडाकेश !
गाते हो वारम्वार ।
मुक्त ! तुम्हारे मुक्त कण्ठ में
स्वरारोह, अवरोह, विघात,
मधुर मन्द्र, उठ पुनः पुनः ध्वनि
छा लेती है गगन, श्याम कानन,
सुरभित उद्यान,
झर-झर-रव भूधर का मधुर प्रपात ।
वधिर विश्व के कानों में
भरते हो अपना राग,
मुक्त शिशु ! पुनः पुनः एक ही राग अनुराग ।

[5]

निरञ्जन बने नयन-अञ्जन !
कभी चपल गति, अस्थिर मति,
जल-कलकल तरल प्रवाह,
वह उत्थान-पतन-हत अविरत
संसृति-गत उत्साह,
कभी दुख-दाह
कभी जलनिधि-जल विपुल अथाह,—
कभी क्रीड़ारत सात प्रभञ्जन—
बने नयन-अञ्जन !
कभी किरण-कर पकड़-पकड़कर
चढ़ते हो तुम मुक्त गगन पर,
झलमल ज्योति अयुत-कर-किंकर,
सीस झुकाते तुम्हें तिमिरहर—
अहे कार्य से गत कारण पर !
निराकार, हैं तीनो मिले भुवन—

बने नयन-अञ्जन !
आज श्याम-घन श्याम, श्याम छवि,
मुक्त-कण्ठ है तुम्हें देख कवि,
अहो कुसुम-कोमल कठोर-पवि !
शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र रवि संस्तुत
नयन-मनोरञ्जन !
बने नयन-अञ्जन !

[6]

तिरती है समीर-सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया—
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया—
यह तेरी रण-तरी
भरी आकांक्षाओं से,
घन, भेरी-गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल !
फिर-फिर
बार-बार गर्जन
वर्षण है मूसलधार,
हृदय थाम लेता संसार,
सुन-सुन घोर वज्र-हुङ्कार।
अशनि-पात से शायित उन्नत शत-शत वीर,
क्षत-विक्षत हत अचल-शरीर,
गगन-स्पर्शी स्पर्द्धा-धीर।
हँसते हैं छोटे पौधे लघुभार—
शस्य अपार,
हिल-हिल,
खिल-खिल
हाथ हिलाते,
तुझे बुलाते,
विप्लव-रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।
अट्टालिका नहीं है रे
आतङ्क-भवन,

सदा पङ्क पर ही होता
जल-विप्लव-प्लावन,
क्षुद्र प्रफुल्ल जलज से
सदा छलकता नीर,
रोग-शोक में भी हँसता है
शैशव का सुकुमार शरीर।
रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष
अङ्गना-अङ्ग से लिपटे भी
आतङ्क-अङ्क पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल !
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !
चूस लिया है उसका सार,
हाड़-मात्र ही है आधार,
ऐ जीवन के पारावार !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 6 सितम्बर, 13 सितम्बर और 20 सितम्बर, 1924 के अंकों में क्रमशः प्रकाशित। **परिमल** में संकलित]

दीन

सह जाते हो
उत्पीड़न की क्रीड़ा सदा निरंकुश नग्न,
हृदय तुम्हारा दुर्बल होता भग्न,
अन्तिम आशा के कानों में
स्पन्दित हम-सबके प्राणों में
अपने उर की तप्त व्यथाएँ,
क्षीण कण्ठ की करुण कथाएँ
कह जाते हो
और जगत् की ओर ताककर
दुःख, हृदय का क्षोभ त्यागकर,
सह जाते हो।

कह जाते हो—
"यहाँ कभी मत आना,
उत्पीड़न का राज्य, दुःख ही दुःख
यहाँ है सदा उठाना,
क्रूर यहाँ पर कहलाता है शूर,
और हृदय का शूर सदा ही दुर्बल क्रूर;
स्वार्थ सदा ही रहता है परार्थ से दूर,
यहाँ परार्थ वही, जो रहे
स्वार्थ से ही भरपूर;
जगत् की निद्रा, है जागरण,
और जागरण, जगत् का—इस संसृति का
अन्त—विराम—मरण।
अविराम घात—आघात,
आह ! उत्पात !
यही जग-जीवन के दिन-रात।
यही मेरा, इनका, उनका, सबका स्पन्दन,
हास्य से मिला हुआ क्रन्दन।
यही मेरा, इनका, उनका, सबका जीवन,
दिवस का किरणोज्ज्वल उत्थान,
रात्रि की सुप्ति, पतन;
दिवस की कर्म-कुटिल तम-भ्रान्ति,
रात्रि का मोह, स्वप्न भी भ्रान्ति,
सदा अशान्ति !"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 27 सितम्बर, 1924। **परिमल में संकलित**]

'कवि' के प्रति

धन्य जन्म; जीवन, यौवन !
'कवि' ! रवि-सा तू भी छवि-छवि पर—
छोड़ सतत - मधु - मधुर किरन !
निज अनुपम कृति खोल प्रकृति से

कर सुरभित मन, वन-उपवन—
भर दे सब में नवजीवन ॥
रुचि - शुचि - कलियों को अलियों-सा—
घेर - घेरकर मृदु गुंजन।
'कवि' निरवधि नव-रस-निधि में तू—
रह, बह, कह जा विकच वचन—
कर प्रियतम का आराधन ॥

['कवि', मासिक, कानपुर, मार्गशीर्ष, संवत् 1981 वि. (नवम्बर-दिसम्बर, 1924)। असंकलित]

प्याला

मृत्यु - निर्माण प्राण - नश्वर
कौन देता प्याला भर-भर ?

मृत्यु की बाधाएँ, बहु द्वन्द
पार कर कर जाते स्वच्छन्द
तरङ्गों में भर अगणित रङ्ग,
जङ्ग जीते, मर हुए अमर।

गीत अनगिनित, नित्य नव छन्द
विविध श्रृंखल, शत मङ्गल-बन्द,
विपुल नव-रस पुलकित आनन्द
मन्द मृदु झरता है झर-झर।

नाचते ग्रह, तारा-मण्डल,
पलक में उठ गिरते प्रतिपल,
धरा घिर घूम रही चञ्चल,
काल-गुणत्रय-भय-रहित समर।

काँपता है वासन्ती वात,
नाचते कुसुम - दशन तरु-पात
प्रात, फिर विधुप्लावित मधु-रात,
पुलकप्लुत आलोड़ित सागर।

[रचनाकाल : 28 मार्च, 1925। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

नारायण मिलें हँस अन्त में

याद है वह हरित दिन
बढ़ रहा था ज्योति के जब सामने मैं
देखता
दूर-विस्तृत धूम्र-धूसर पथ भविष्यत् का विपुल
आलोचनाओं से जटिल
तनु-तन्तुओं सा सरल-वक्र, कठोर-कोमल हास-सा,
गम्य-दुर्गम मुख-बहुल नद-सा भरा।

थक गयी थी कल्पना
जलयान-दण्ड-स्थित खगी-सी
खोजती तट-भूमि सागर-गर्भ में,
फिर फिरी थककर उसी दुख-दण्ड पर।

पवन-पीड़ित पत्र-सा
कम्पन प्रथम वह अब न था।
शान्ति थी, सब
हट गये बादल विकल वे व्योम के।

उस प्रणय के प्रात की है आज तक
याद मुझको जो किरण
बाल-यौवन पर पड़ी थी;
नयन वे
खींचते थे चित्र अपने सौख्य के।

श्रान्ति और प्रतीति की
चल रही थी तूलिका;
विश्व पर विश्वास छाया था नया।
कल्प-तरु के नये कोंपल थे उगे।

हिल चुका हूँ मैं हवा में; हानि क्या
यदि झड़ूँ, बहता फिरूँ मैं अन्तहीन प्रवाह में
तब तक न जब तक दूर हो निज ज्ञान—
नारायण मिलें हँस अन्त में।

[रचनाकाल : 25 जून, 1925। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

स्मृति

जटिल जीवन - नद में तिर - तिर
डूब जाती हो तुम चुपचाप
सतत द्रुत गतिमयि अयि फिर-फिर,
उभड़ करती हो प्रेमालाप;

सुप्त मेरे अतीत के गान
सुना, प्रिय, हर लेती हो ध्यान!

सफल जीवन के सब असफल,
कहीं की जीत, कहीं की हार,
जगा देता मधु - गीत सकल
तुम्हारा ही निर्मम झंकार;

वायु-व्याकुल शतदल-सा हाय,
विकल रह जाता हूँ निरुपाय!

मुक्त शैशव मृदु - मधुर मलय,
स्नेह-कम्पित किसलय नव गात,

कुसुम अस्फुट नव - नव संचय,
मृदुल वह जीवन कनक-प्रभात;

आज निद्रित अतीत में बन्द
ताला वह, गति वह, लय वह छन्द !

आँसुओं से कोमल झर - झर
स्वच्छ निर्झर-जल-कण-से प्राण
सिमट सट-सट अन्तर भर-भर
जिसे देते थे जीवन - दान

वही चुम्बन की प्रथम हिलोर
स्वप्न-स्मृति, दूर, अतीत, अछोर !

पली सुख-वृन्तों की कलियाँ—
विटप उर की अवलम्बित हार—
विजन-मन-मुदित सहेलरियाँ—
स्नेह-उपवन की सुख, श्रृंगार,

आज खुल-खुल गिरतीं असहाय,
विटप वक्षःस्थल से निरुपाय !

मूर्ति वह यौवन की बढ़-बढ़—
एक अश्रुत भाषा की तान,
उमड़ चलती फिर-फिर अड़-अड़
स्वप्न-सी जड़ नयनों में मान;

मुक्त-कुन्तल मुख व्याकुल लोल !
प्रणय-पीड़ित वे अस्फुट बोल !

तृप्ति वह तृष्णा की अविकृत,
स्वर्ग आशाओं की अभिराम,
क्लान्ति की सरल मूर्ति निद्रित,
गरल की अमृत, अमृत की प्राण,

रेणु वह किस दिगन्त में लीन,
वेणु ध्वनि-सी न शरीराधीन !

सरल-शैशव - श्री सुख-यौवन
केलि अलि-कलियों की सुकुमार,
अशंकित नयन, अधर - कम्पन
हरित-हृत्-पल्लव-नव शृंगार;

दिवस-द्युति छवि निरलस अविकार,
विश्व की श्वसित छटा-विस्तार।

नियति - सन्ध्या में मुँदे सकल
वही दिनमणि के अगणित साज,
न हैं वे कुसुम, न वह परिमल,
न हैं वे अधर, न है वह लाज!

तिमिर-ही-तिमिर रहा कर पार
लक्ष - वक्षःस्थलार्गलित द्वार!

उषा-सी क्यों तुम कहो, द्विदल
सुप्त पलकों पर कोमल हाथ
फेरती हो ईप्सित मंगल,
जगा देती हो वही प्रभात!

वही सुख, वही भ्रमर-गुञ्जार!
वही मधु - गलित पुष्प-संसार!

जगत-उर की गत अभिलाषा,
शिथिल तन्त्री की सोयी तान,
दूर विस्मृति की मृत भाषा
चिता की चिरता का आह्वान,

जगाने में है क्या आनन्द?
शृंखलित गाने में क्या छन्द?

मुँदी जो छवि चलते दिन की
शयन - मृदु नयनों में सुकुमार,
मलिन जीवन - सन्ध्या जिनकी
हो रही हो विस्मृति में पार,

चित्र वह स्वप्नों में क्यों खींच
सुरा उसमें देती हो सींच ?

छिपी जो छवि, छिप जाने दो,
खोलते हुए तुम्हें क्यों चाव ?
दुखद वह झलक न आने दो
हमें खेने भी तो दो नाव ?

हुए क्रमशः दुर्बल ये हाथ,
दूसरे और न कोई साथ !

बँधे जीवों की बन माया
फेरती फिरती हो दिन - रात,
दुःख-सुख के स्वर की काया,
सुनाती है पूर्व - श्रुत बात,

जीर्ण जीवन का दृढ़ संस्कार
चलाता फिर नूतन संसार ?

यही तो है जग का कम्पन—
अचलता में सुस्पन्दित प्राण—
अहंकृति में झंकृति—जीवन—
सरस अभिराम पतन-उत्थान—

दया-भय-हर्ष, क्रोध - अभिमान
दुःख - सुख - तृष्णा-ज्ञानाज्ञान।

रश्मि से दिनकर की सुन्दर
अन्ध-वारिद-उर में तुम आप
तूलिका से अपनी रचकर
खोल देती हो हर्षित चाप,

उगा नव आशा का संसार
चकित छिप जाती हो उस पार !

पवन में छिपकर तुम प्रतिपल,
पल्लवों में भर मृदुल हिलोर,

चूम कलियों के मुद्रित दल,
पत्र छिद्रों में गा निशि-भोर

विश्व के अन्तस्तल में चाह,
जगा देती हो तड़ित-प्रवाह।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 18 जुलाई और 25 जुलाई, 1925 के अंकों में दो किस्तों में प्रकाशित। **परिमल** में संकलित]

जागृति में सुप्ति थी

जड़े नयनों में स्वप्न
खोल बहुरंगी पंख विहग-से,
सो गया सुरा-स्वर
प्रिया के मौन अधरों में
क्षुब्ध एक कम्पन-सा निद्रित
सरोवर में।

लाज से सुहाग का—
मान से प्रगल्भ प्रिय-प्रणय निवेदन का
मन्द-हास-मृदु वह
सजा-जागरण-जग,
थककर वह चेतना भी लाजमयी
अरुण-किरणों में समा गयी।

जाग्रत प्रभा में क्या शान्ति थी !—
जागृति में सुप्ति थी—
जागरण क्लान्ति थी।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 12 सितम्बर, 1925। **परिमल** में संकलित]

शेफालिका

बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन-उभार ने
पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिके।

मूक-आह्वान-भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।

जागती प्रिया नक्षत्र-दीप-कक्ष में
वक्ष पर सन्तरण-आश आकाश है,
पार करना चाहता
सुरभिमय समीर-लोक,
शोक-दु:ख-जर्जर इस नश्वर संसार की
क्षुद्र सीमा,

पहुँचकर प्रणय-छाये
अमर विराम के
सप्तम सोपान पर।
पाती अमर प्रेम-धाम,
आशा की प्यास एक रात में भर जाती है,
सुबह को अली, शेफाली झर जाती है।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 सितम्बर, 1925। **परिमल** में संकलित]

अमृत में गरल

जागृति ज्यों सुप्ति के हृदय में,
है सो जाता
विस्मृति में प्रणय--परिचय का सजा सुहाग।

भैरव के घोष में स्वभाव भूल
खो जाता
विरह-विदग्ध नैश स्मृति का विहाग-राग।
सतत समायी हुई वेदना—
व्यथा की वीचि—विरह, सुयोग-संयोग में,
ज्यों जल में आग।
ब्रह्म में न रहने पर भी तो हम देखते हैं
माया की छाया—
संस्कृति का कराल दाग।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 10 अक्तूबर, 1925। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

पतनोन्मुख

हमारा डूब रहा दिनमान!

मास-मास दिन-दिन प्रतिपल
उगल रहे हो गरल-अनल,
जलता यह जीवन असफल;
हिम-हत-पातों-सा असमय ही
झुलसा हुआ शुष्क निश्चल!

विकल डालियों से
झरने ही पर है पल्लव-प्राण—
हमारा डूब रहा दिनमान!

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 24 अक्तूबर, 1925। **परिमल** में संकलित]

प्रार्थना

जीवन प्रात-समीरण-सा लघु
विचरण-निरत करो।
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता
छवि-मधु-सुरभि भरो।
अञ्चल-सा न करो चञ्चल,
क्षण-भंगुर,
नत नयनों में स्थिर दो बल,
अविचल उर;
स्वर-सा कर दो अविनश्वर,
ईश्वर-मज्जित;
शुचि चन्दन-वन्दन-सुन्दर,
मन्दर-सज्जित;
मेरे गगन-मगन मन में अयि
किरणमयी, विचरो—
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता
छवि-मधु-सुरभि भरो।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 2 जनवरी, 1926। **परिमल** में संकलित]

निवेदन

एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में,
लिपट स्मृति बन जायँगे कुछ कन-
कनक सींचे नयन-जल में।

[1]

जब कहीं झड़ जायँगे वे,
कह न पायेगी
वह हमारी मौन भाषा
क्या सुनायेगी ?

दाग़ जब मिट जायगा,
स्वप्न ही तो राग वह कहलायगा ?
फिर मिटेगा स्वप्न भी निर्धन
गगन-तम-सा प्रभा-पल में,
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में।

[2]

फिर किधर को हम बहेंगे
तुम किधर होगे,
कौन जाने फिर सहारा
तुम किसे दोगे ?
हम अगर बहते मिले,
क्या कहोगे भी कि हाँ, पहचानते ?
या अपरिचित खोल प्रिय चितवन
मगन बह जाओगे पल में
परम-प्रिय-सँग अतल जल में ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 9 जनवरी 1926 ('आवेदन' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

जागो फिर एक बार

[1]

जागो फिर एक बार !

प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण-पङ्ख तरुण-किरण
खड़ी खोलती है द्वार—
जागो फिर एक बार !

आँखें अलियों-सी
किस मधु की गलियों में फँसीं,
बन्द कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन
या सोयीं कमल-कोरकों में ?—
बन्द हो रहा गुञ्जार—
जागो फिर एक बार !

अस्ताचल ढले रवि,
शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख
यामिनी-गन्धा जगी,
एकटक चकोर-कोर दर्शन-प्रिय,
आशाओं भरी मौन भाषा बहु भावमयी
घेर रहा चन्द्र को चाव से,
शिशिर-भार-व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुए,
आया कलियों में मधुर
मद-उर यौवन-उभार—
जागो फिर एक बार !

पिउ-रव पपीहे प्रिय बोल रहे,
सेज पर विरह-विदग्धा वधू
याद कर बीती बातें, रातें मन-मिलन की
मूँद रही पलकें चारु,
नयन-जल ढल गये,
लघुतर कर व्यथा-भार—
जागो फिर एक बार !

सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय, नयन-नीर
शयन-शिथिल-बाहें
भर स्वप्निल आवेश में,
आतुर उर वसन-मुक्त कर दो,
सब सुप्ति सुखोन्माद हो;

छूट-छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु-कुटिल प्रसार-कामी केश-गुच्छ ।
तन-मन थक जायँ,
मृदु सुरभि-सी समीर में
बुद्धि-बुद्धि में हो लीन,
मन में मन, जी जी में,
एक अनुभव बहता रहे
अभय आत्माओं में,
कब से मैं रही पुकार—
जागो फिर एक बार !

उगे अरुणाचल में रवि
आयी भारती-रति कवि-कण्ठ में,
क्षण-क्षण में परिवर्तित
होते रहे प्रकृति-पट,
गया दिन, आयी रात,
गयी रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास,
वर्ष कितने ही हजार—
जागो फिर एक बार !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 9 जनवरी, 1926 । **परिमल** में संकलित]

पारस

प्रतिपल तुम ढाल रहे सुधा-मधुर ज्योति-धार,
मेरे जीवन पर, प्रिय, यौवन-वन के बहार !

बह-बह कुछ कह-कह आपस में,
रह-रह आती हैं रस-बस में,
कितनी ही तरुण अरुण किरणें,

देख रहा हूँ अजान दूर ज्योति - यान - द्वार,
मेरे जीवन पर, प्रिय, यौवन-वन के बहार!

मार पलक परिमल के शीतल
छन-छनकर पुलकित धरणीतल,
बहती है वायु, मुक्त कुन्तल,

अर्पित है चरणों पर मेरा यह हृदय - हार—
मेरे जीवन पर, प्रिय, यौवन - वन के बहार!

जीवन की विजय, सब पराजय,
चिर-अतीत आशा, सुख, सब भय
सबमें तुम, तुममें सब तन्मय,

कर-स्पर्श-रहित और क्या है ?—अपलक, असार!
मेरे जीवन पर, प्रिय, यौवन-वन के बहार!

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 16 जनवरी, 1926। **परिमल** में संकलित]

वृत्ति

देख चुका, जो-जो-आये थे,
चले गये,
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब
भले गये!
क्षण-भर की भाषा में,
नव-नव अभिलाषा में,
उगते पल्लव-से कोमल शाखा में,
आये थे जो निष्ठुर कर से
मले गये,
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब
भले गये!

चिन्ताएँ, बाधाएँ,
आती ही हैं, आयें;
अन्ध हृदय है, बन्धन निर्दय लायें;
मैं ही क्या, सब ही तो ऐसे
छले गये,
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब
भले गये !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 23 जनवरी, 1926। परिमल में संकलित]

बदला

देख पुष्प-द्वार
परिमल-मधु-लुब्ध मधुप करता गुंजार।

आशा की फाँस में,
प्रणय, साँस-साँस में
बहता है, भौंरा मधु-मुग्ध
कहता अति-चकित-चित्त-क्षुब्ध—

"सुनो, अहा फूल,
जब कि यहाँ दम है,
फिर, क्या रंजोग़म है,

पड़ेगी न धूल,
मैं हिला-डुला झाड़-पोंछ दूंगा,
बदले में ज्यादा कभी न लूंगा,

बस, मेरा हक मुझको दे देना,
अपना जो हो, अपना ले लेना।"

धूल-झड़ाई थी
वह सब-कुछ,

जो कुछ कि आज तक की कमाई थी।
रूप और यौवन-बल खोया,
दिन - भर में थक, नींद
सदा की झड़कर सोया।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 13 फरवरी, 1926। **परिमल में संकलित**]

जागो फिर एक बार

[2]
जागो फिर एक बार!

समर में अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु-से
सिन्धु-नद-तीरवासी! —
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरङ्ग चमू सङ्ग;
"सवा-सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"
किसने सुनाया यह
वीर-जन-मोहन अति
दुर्जय संग्राम-राग,
फाग का खेला रण
बारहों महीनों में ?
शेरों की माँद में
आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार!

सत् श्री अकाल,
भाल-अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल—
तीनों गुण—ताप त्रय,

अभय हो गये थे तुम
मृत्युञ्जय व्योमकेश के समान,
अमृत-सन्तान ! तीव्र
भेदकर सप्तावरण-मरण-लोक,
शोकहारी ! पहुँचे थे वहाँ
जहाँ आसन है सहस्रार—
जागो फिर एक बार !

सिंह की गोद से
छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण ? रे अजान !
एक मेषमाता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छिनती सन्तान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है;—
किन्तु क्या,
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं—
गीता है, गीता है—
स्मरण करो बार-बार—
जागो फिर एक बार !

पशु नहीं, वीर तुम,
समर-शूर क्रूर नहीं,
काल-चक्र में हो दबे
आज तुम राजकुँवर !—समर-सरताज !
पर, क्या है,
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन बन्ध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द रूप।
महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं-परमाणुओं में फूंका हुआ—

"तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज-भर भी है नहीं
पूरा यह विश्व-भार—"
जागो फिर एक बार !

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 27 मार्च, 1926। **परिमल** में संकलित]

परलोक

नयन मुँदेंगे जब, क्या देंगे ?—
चिर - प्रिय - दर्शन ?
शत-सहस्र-जीवन-पुलकित, प्लुत
प्यालाकर्षण ?
अमरण - रणमय मृदु-पद-रज ?
विद्युद्-घन-चुम्बन ?
निर्विरोध, प्रतिहत भी
अप्रतिहत आलिंगन ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 27 मार्च, 1926। **परिमल** में संकलित]

शेष

सुमन भर न लिये,
सखि, वसन्त गया।
हर्ष - हरण - हृदय
नहीं निर्दय क्या ?

विवश नयनोन्मादवश हँसकर तकी,
देखती - ही - देखती री मैं थकी,
अलस पग, मग में ठगी - सी रह गयी,
मुकुल-व्याकुल श्रीसुरभि बह कह गयी—

"सुमन भर न लिये,
सखि, वसन्त गया।
हर्ष - हरण - हृदय
नहीं निर्दय क्या ?"

याद थी आयी,
एक दिन जब शान्त
वायु थी, आकाश
हो रहा था क्लान्त

ढल रहे थे मलिन-मुख रवि, दुख-किरण
पद्म-मन पर थी, रहा अवसन्न वन,
देखती यह छवि खड़ी मैं, साथ वे
कह रहे थे हाथ में यह हाथ ले,

"एक दिन होगा
जब न मैं हूँगा,
हर्ष - हरण - हृदय
नहीं निर्दय क्या ?"

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 27 मार्च, 1926। **परिमल** में संकलित]

वेदना

छेड़ो अब तार !
चुप हैं, कर दो विकल,
बहने दो कल - कल - कल
सरिता-सी कविता में खरतर स्वर-धार—-

छेड़ो अब तार !

मानस मधु में न बहे
जो स्वर, स्वर ही न रहे
कहते फिर क्यों हो—'है मधुर सुर-बहार'—

छेड़ो अब तार !

दिवसन विरहाशासी
पद्म विकच भाषासी
जगती के चुन प्रसून गूँथो स्वर-हार—
छेड़ो अब तार !!

['चाँद', मासिक, इलाहाबाद, मार्च, 1926 । असंकलित]

महाराज शिवाजी का पत्र[1]
(मिर्ज़ा राजा जयसिंह के नाम)

वीर ! सर्दारों के सर्दार !—महाराज !
बहु-जाति, क्यारियों के पुष्प-पत्र-दल-भरे
आन-बान-शानवाला भारत-उद्यान के
नायक हो, रक्षक हो,
वासन्ती सुरभि को हृदय से हरकर
दिगन्त भरनेवाला पवन ज्यों ।
वंशज हो—चेतन अमल अंश,
हृदयाधिकारी रवि-कुल-मणि रघुनाथ के ।

1. 'श्रीकृष्ण सन्देश' में शिवाजी के पत्र का गद्य में छपा हुआ अनुवाद पढ़कर उसे स्वच्छन्द-छन्द में पद्यबद्ध करने की मुझे लालसा हुई । पत्र के भावों पर मैंने स्वयं भी अर्थों के अनुसार कल्पना की है । इसलिए आकार कुछ बढ़ गया है ।—ले.

किन्तु हाय ! वीर राजपूतों की
गौरव-प्रलम्ब ग्रीवा
अवनत हो रही है आज तुमसे महाराज,
मोगल-दल-विगलित-बल
हो रहे हैं राजपूत,
बाबर के वंश की
देखो आज राजलक्ष्मी
प्रखर से प्रखरतर-प्रखरतम दीखती
दुपहर की धूप-सी,
दुर्मद ज्यों सिन्धुनद
और तुम उसके साथ
वर्षा की बाढ़ ज्यों
भरते हो प्रबल वेग प्लावन का,
बहता है देश निज
धन-जन-कुटुम्ब-भाई—
अपने सहोदर-मित्र—-
निस्सहाय त्रस्त भी 'उपाय'-शून्य !
वीरता की गोद पर
मोद भरनेवाले शूर तुम,
मेधा के महान्,
राजनीति में हो अद्वितीय जयसिंह
सेवा हो स्वीकृत—
है नमस्कार साथ ही
आसीस है बार-बार।
कारण संसार के विश्वरूप,
तुम पर प्रसन्न हों,
हृदय की आँखें दें,
देखो तुम न्याय-मार्ग।
सुना है मैंने, तुम
सेना से पाट दक्षिणा-पथ को
आये हो मुझ पर चढ़ाई कर,
जय-श्री, जयसिंह !
मोगल-सिंहासन के—
औरङ्ग के पैरों के
नीचे तुम रक्खोगे,
काढ़ देना चाहते हो दक्षिण के प्राण—

मोगलों को तुम जीवनदान,
काढ़ हिन्दुओं का हृदय,
सदय ऐसे ! कीर्ति से
जाओगे अपनी पताका ले ।
हाय री यशोलिप्सा !
अन्धे की दिवस तू—
अन्धकार रात्रि-सी ।
लपट में झपट
प्यासों मरनेवाले
मृग की मरीचिका है ।
चेतो वीर, हो अधीर जिसके लिए,
अमृत नहीं, गरल है—
अति कटु हलाहल है;
कीर्ति-शोणिमा में यह
कालिमा कलङ्क की
दीखती है छिपी हुई—
काला कर देगी मुख,
देश होगा विगत-सुख, विमुख भी,
धर्म को सहेगा नहीं
इतना यह अत्याचार,
करो, कुछ विचार,
तुम देखो वस्त्रों की ओर,
शराबोर किसके खून से ये हुए ?
लालिमा क्या है कहीं कुछ ?
भ्रम है वह,
सत्य कालिमा ही है ।
दोनों लोक कहेंगे,
होता तू जानदार,
हिन्दुओं पर हरगिज तू
कर न सकता प्रहार ।
अगर निज नाम से,
बाहुबल से, चढ़कर
तुम आते कहीं दक्षिण में
विजय के लिए वीर,
पत्र-से प्रभात के
इन नयन-पलकों को

राह पर तुम्हारी मैं
सुख से बिछा देता—
सीस भी झुका देता सेवा में
साथ भी होता वीर,
रक्षक शरीर का, हमरकाब,
साथ लेता सेना निज,
सागराम्बरा भूमि
क्षत्रियों की जीतकर,
विजय सिंहासन-श्री
सौंपता ला तुम्हें मैं—
स्मृति-सी निज प्रेम की।
किन्तु तुम आये नहीं अपने लिए
आये हो, औरङ्गशाह को
देने मृदु अङ्ग निज काटकर।
धोखा दिया है यह
उसने तुम्हें क्या ही !—
दगाबाज, लाज जो उतारता है
मरजादवालों की,
खूब बहकाया तुम्हें !
सोचता हूँ अपना कर्तव्य अब—
देश का उद्देश,
पर, क्या करूँ मैं,
निश्चय कुछ होता नहीं—
द्विधा में पड़े हैं प्राण।
अगर मैं मिलता हूँ,
"डरकर मिला है",
यह शत्रु मेरे कहेंगे।—
नहीं यह मर्दानगी।
समय की बाट कभी
जोहते नहीं हैं पुरुष—
पुरुषकार उपहार में है संयोग से
जिन्हें मिला—
सिंह भी क्या स्वाँग कभी
करता है स्यार का ?

क्या कहूँ मैं,

लूँ गर तलवार,
तो धार पर बहेगा खून
दोनों ओर हिन्दुओं का, अपना ही ।
उठता नहीं है हाथ
मेरा कभी नरनाथ,
देख हिन्दुओं को ही
रण में—विपक्ष में ।
हाय री दासता !
पेट के लिए ही—
लड़ते हैं भाई-भाई—
कोई तुम ऐसा भी कीर्तिकामी ।
वीरवर ! समर में
धर्म-घातकों से ही खेलती है रण-क्रीड़ा
मेरी तलवार, निकल म्यान से ।
आये होते कहीं
तुर्क इस समर में,
तो क्या, शेरमर्दों के
वे शिकार आये होते ।
किन्तु हाय !
न्याय-धर्म-वञ्चित वह
पापी औरङ्गजेब—
राक्षस निरा जो नर-रूप का,
समझ लिया खूब जब
दाल है गली नहीं
अफजलखाँ के द्वारा,
कुछ न बिगाड़ सका
शाइस्तः खान आकर,
सीस पर तुम्हारे तब
सेहरा समर का बाँध
भेजा है फतहयाब होने को दक्षिण में ।
शक्ति उसे है नहीं
चोटें सहने की यहाँ
वीर शेरमर्दों की ।
सोचो तुम,
उठती जब नग्न तलवार है स्वतन्त्रता की,
कितने ही भावों से

याद दिला घोर दुःख दारुण परतन्त्रता का,
फूंकती स्वतन्त्रता निज मन्त्र से
जब व्याकुल कान,
कौन वह सुमेरु
रेणु-रेणु जो न हो जाय ?
इसीलिए दुर्जय है हमारी शक्ति !
और भी—
तुम्हें यहाँ भेजा जो,
कारण क्या रण का ?
एक यही निस्सन्देह,
हिन्दुओं में बलवान्
एक भी न रह जाय।
लुप्त हो हमारी शक्ति
तुर्कों के विजय की।
आपस में लड़कर
हो घायल मरेंगे सिंह,
जङ्गल में गीदड ही
गीदड़ रह जायँगे—
भोगेंगे राज्य-सुख।
गुप्त भेद एकमात्र
है यही औरङ्ग का,
समझो तुम,
बुद्धि में इतना भी नहीं पैठता ?
जादू के मारे, हाय
हारे तुम बुद्धि भी ?
समझो कि कैसा बहकाया है ?
मिला है तुम्हें
गन्ध-व्याकुल-समीर-मन्द-स्पर्श सरस,
साथ मरुभूमि में
सेना के संग तुम
झुलस भी चुके हो खूब
लू के तप्त झोंकों में।
सुख और दुःख के
कितने ही चित्र तुम देख चुके।
फूलों की सेज पर सोये हो,
काँटों की राह भी
आह भर पार की।

काफी ज्ञान, वयोवृद्ध !
पाया है तुमने संसार का ।
सोचो जरा,
क्या तुम्हें उचित है कभी
लोहा लो अपने ही भाइयों से ?
अपने ही खून की
अञ्जलि दो पूर्वजों को,
धर्म-जाति के ही लिए
दिये हों जिन्होंने प्राण—
कैसा यह ज्ञान है !
धीमान् कहते हैं तुम्हें लोग
जयसिंह सिंह हो तुम,
खेलो शिकार खूब हिरनों का,
याद रहे—
शेर कभी मारता नहीं है शेर,
केसरी
अन्य वन्य पशुओं का शिकार करता है ।
सिंहों के साथ ही चाहते हो गृह-कलह ?—
जयसिंह ?
अगर हो शानदार,
जानदार है यदि अश्व वेगवान्,
बाहुओं में बहता है
क्षत्रियों का खून यदि,
हृदय में जागती है वीर, यदि
माता क्षत्राणी की दिव्य मूर्ति,
स्फूर्ति यदि अंग-अंग को है उकसा रही,
आ रही है याद यदि अपनी मरजाद की,
चाहते हो यदि कुछ प्रतिकार
तुम रहते तलवार के म्यान में,
आओ वीर, स्वागत है,
सादर बुलाता हूँ ।
हैं जो बहादुर समर के,
वे मरके भी
माता को बचायेंगे ।
शत्रुओं के खून से
धो सके यदि एक भी तुम मा का दाग,

कितना अनुराग देशवासियों का पाओगे !—
निर्जर हो जाओगे--
अमर कहलाओगे,
क्या फल है,
बाहुबल से, छल से या कौशल से
करके अधिकार किसी
भीरु पीनोरु नतनयना नवयौवना पर,
सौंपो यदि भय से उसे
दूसरे कामातुर किसी
लोलुप प्रतिद्वन्द्वी को ?
देखा क्या सकोगे तुम
सामने तुम्हारे ही
अर्जित तुम्हारी उस
प्यारी सम्पत्ति पर,
प्राप्त करे दूसरा ही
भोग-संयोग निज, आँख दिखा,
और तुम वीर हो ?
रहते तूणीर में तीर, अहो,
छोड़ा कब क्षत्रियों ने अपना भाग ?—
रहते प्राण—कटि में कृपाण के ?
सुना नहीं तुमने क्या वीरों का इतिहास ?
पास ही तो—देखो,
क्या कहता चित्तौड़-गढ़ ?
मढ़ गये ऐसे तुम तुर्कों में ?
करते अभिमान भी किन पर ?
विदेशियों—विधर्मियों पर ?
काफिर तो कहते न होंगे कभी तुम्हें वे ?
विजित भी न होगे तुम औ' गुलाम भी नहीं ?
कैसा परिणाम यह सेवा का !—
लोभ भी न होगा तुम्हें मेवा का महाराज !
बादल घिर आये जो विपत्तियों के क्षत्रियों पर,
रहती सदा ही जो आपदा,
क्या कभी कोशिश भी की कोई
तुमने बचाने की ?
जानते हो,
वीर छत्रसाल पर

होगा मोगलों का
बहुत शीघ्र ही वज्र-प्रहार।
दूसरे भी मलते हैं हाथ,
हैं अनाथ हिन्दू,
असहनीय हो रहा है अत्याचार।
सच है मोगलों से
सम्बन्ध हुआ है तुम्हारा
किन्तु क्या अन्ध भी तुम हो गये ?
राक्षस पर रखते हो
नीति का भरोसा तुम,
तृष्णा, स्वार्थ-साधना है जिसकी—
निज भाई के खून से,
प्राणों से पिता के
जो शक्तिमान् है हुआ ?
जानते नहीं हो तुम ?
आड़ राजभक्ति की
लेना है इष्ट यदि,
सोचो तुम,
शाहजहाँ से तुमने कैसा बर्ताव किया।
दी है विधाता ने
बुद्धि यदि तुम्हें कुछ—
वंश का बचा हुआ
यदि कुछ पुरुषत्व है—
तत्त्व है,
तपा तलवार
सन्ताप से निज जन्म-भू के
दुखियों के आँसुओं से
उस पर तुम पानी दो।
अवसर नहीं है यह
लड़ने का आपस में
खाली मैदान पड़ा हिन्दुओं का महाराज,
बलिदान चाहती है जन्म-भूमि,
खेलोगे जान ले हथेली पर ?
धन-जन-देवालय
देव-देश-द्विज-दारा-बन्धु
इंधन हैं हो रहे तृष्णा की भट्ठी में—

हद है अब हो चुकी ।
और भी कुछ दिनों तक
जारी रहा ऐसा यदि अत्याचार, महाराज,
निश्चय है, हिन्दुओं की
कीर्ति उठ जायेगी—
चिह्न भी न हिन्दू-सभ्यता का रह जायेगा ।
कितना आश्चर्य है !
मुट्ठी-भर मुसलमान
पले आतंक से हैं
भारत के अङ्क पर ।
अपनी प्रभुता में
हैं मानते इस देश को,
विश्रृंखल तुम-सा यह हो रहा ।
देखते नहीं हो क्या,
कैसी चाल चलता है रण में औरंगजेब ?
बहुरूपी, रंग बदला ही किया ।
साँकलें हमारी हैं
जकड़ रहा है वह जिनसे हिन्दुओं के पैर ।
हिन्दुओं के काटता है सीस
हिन्दुओं की तलवार ले ।
याद रहे,
बरबाद जाता है हिन्दू-धर्म, हिन्दुस्तान !
मरजाद चाहती है आत्मत्याग—
शक्ति चाहती है अपनाव, प्रेम ।
क्षिप्त हो रहे हैं जो
खण्डशः क्षीण, क्षीणतर हुए—
आप ही हैं अपनी
सीमा के राजराजेश्वर,
भाइयों के शेर और क्रीतदास तुर्कों के,
उद्धत विवेक-शून्य,
चाहिए उन्हें कि रूप अपना वे पहचानें,
मिल जायँ जल से ज्यों जलराशि,
देखो फिर
तुर्क-शक्ति कितनी देर टिकती है ।
संगठित हो जाओ—
आओ, बाहुओं में भर

भूले हुए भाइयों को,
अपनाओ अपना आदर्श तुम ।
चाहिए हमें कि
तदबीर औ' तलवार पर
पानी चढ़ावें खूब,
क्षत्रियों की क्षिप्त शक्ति
कर लें एकत्र फिर,
बादल के दल मिलकर
घेरते धरा को ज्यों,
प्लावित करते हैं
निज जीवन से जीवों को ।
ईंट का जवाब हमें
पत्थर से देना है,
तुर्कों को तुर्की में,
घूंसे से थप्पड़ का ।

यदि तुम मिल जाओ महाराज जसवन्तसिंह से,
हृदय से कलुष धो डालो यदि,
एकता के सूत्र में
यदि तुम गुंथो फिर महाराज राजसिंह से,
निश्चय है,
हिन्दुओं की लुप्त कीर्ति
फिर से जग जायगी,
आयेगी महाराज
भारत की गयी ज्योति,
प्राची के भाल पर
स्वर्ण-सूर्योदय होगा,
तिमिर-आवरण
फट जायगा मिहिर से,
भीति-उत्पात सब रात के दूर होंगे ।
घेर लो सब कोई,
शेर कुछ है नहीं वह,
मुट्ठी-भर उसके सहायक हैं,
दबकर पिस जायेंगे ।
शत्रु को मौका न दो
अरे, कितना समझाऊँ मैं ?

तुमने ही रेणु को सुमेरु बना रक्खा है।
महाराज !
नीच कामनाओं को
सींचने के ही लिये
पल्लवित विष-वल्लरी को करने के हेतु,
मोगलों की दासता के
पाश मालाएं हैं
फूलों की आज तुम्हें।
छोड़ो यह हीनता,
साँप आस्तीन का
फेंको दूर,
मिलो भाइयों से,
व्याधि भारत की छूट जाय।
बँधे हो बहा दो न
मुक्त तरङ्गों में प्राण,
मान, धन, अपनापन;
कब तक तुम तट के निकट
खड़े हुए चुपचाप
प्रखर उत्ताप के फूल-से रहोगे म्लान,
मृतक, निष्प्राण, जड़।
टूट पड़ो—बह जाओ—
दूर तक फैलाओ अपनी श्री, अपना रङ्ग,
अपना रूप, अपना राग।
व्यक्तिगत भेद ने
छीन ली हमारी शक्ति।
कर्षण-विकर्षण-भाव
जारी रहेगा यदि
इसी तरह आपस में,
नीचों के साथ यदि
उच्च जातियों की घृणा
द्वन्द्व, कलह, वैमनस्य,
क्षुद्र ऊर्मियों की तरह
टक्करें लेते रहे तो
निश्चय है
वेग उन तरङ्गों का
और घट जायगा—

क्षुद्र से वे क्षुद्रतर होकर मिट जायँगी,
चञ्चलता शान्त होगी,
स्वप्न-सा विलीन हो जायगा अस्तित्व सब,
दूसरी ही कोई तरङ्ग फिर फैलेगी।
चाहते हो क्या तुम
सनातन-धर्म-धारा शुद्ध
भारत से बह जाय चिरकाल के लिए ?
महाराज !
जितनी विरोधी शक्तियों से,
हम लड़ रहे हैं आपस में,
सच मानो खर्च है यह
शक्तियों का व्यर्थ ही।
मिथ्या नहीं,
रहती है जीवों में विरोधी शक्ति,
पिता से पुत्र का,
पति का सहधर्मिणी से
जारी सदा ही है कर्षण-विकर्षण-भाव
और यही जीवन है—सत्ता है,
किन्तु तो भी
कर्षण बलवान् है
जब तक मिले हैं वे आपस में—
जब तक सम्बन्ध का ज्ञान है—
जब तक वे हँसते हैं,
रोते हैं एक-दूसरे के लिए।
एक-एक कर्षण में
बँधा हुआ चलता है
एक-एक छोटा परिवार
और उतनी ही सीमा में
बँधा है अगाध प्रेम—
धर्म-भाषा-वेश का,
और है विकर्षणमय
सारा संसार हिन्दुओं के लिए !
धोखा है अपनी ही छाया से !
ठगते वे अपने ही भाइयों को,
लूटकर उन्हें ही वे भरते हैं अपना घर।
सुख की छाया में फिर रहते निश्चिन्त हो

स्वप्न में भिखारी ज्यों ।
मृत्यु का क्या और कोई होगा रूप ?
सोचो कि कितनी नीचता है आज
हिन्दुओं में फैली हुई ।
और यदि एकीभूत शक्तियों से एक ही
बन जाय परिवार,
फैले समवेदना,
एक ओर हिन्दू एक ओर मुसलमान हों,
व्यक्ति का खिंचाव यदि जातिगत हो जाय,
देखो परिणाम फिर,
स्थिर न रहेंगे पैर यवनों के
पस्त हौसला होगा—
ध्वस्त होगा साम्राज्य ।
जितने विचार आज
मारते तरङ्गें हैं
साम्राज्यवादियों की भोग-वासनाओं में,
नष्ट होंगे चिरकाल के लिए।
आयेगी भाल पर
भारत की गयी ज्योति,
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से,
दासता के पाश कट जायँगे ।
मिलो राजपूतों से,
घेरो तुम दिल्ली-गढ़,
तब तक मैं दोनों सुलतानों को देख लूँ ।
सेना घनघटा-सी,
मेरे वीर सरदार
घेरेंगे गोलकुण्डा, बीजापुर,
चमकेंगे खड्ग सब
विद्युद्द्युति बार-बार,
खून की पियेंगी धार
सङ्गिनी सहेलियाँ भवानी की,
धन्य हूँगा, देव-द्विज-देश को
सौंप सर्वस्व निज ।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, के 3 अप्रैल, 24 अप्रैल, 5 जून, 19 जून और 10 जुलाई, 1926 के अंकों में पाँच किस्तों में प्रकाशित । **परिमल** में संकलित]

मौन

बैठ लें कुछ देर,
आओ, एक पथ के पथिक-से
प्रिय, अन्त और अनन्त के,
तम-गहन-जीवन घेर।
मौन मधु हो जाय
भाषा मूकता की आड़ में,
मन सरलता की बाढ़ में,
जल-बिन्दु-सा बह जाय।
सरल अति स्वच्छन्द
जीवन, प्रात के लघुपात से,
उत्थान-पतनाघात से
रह जाय चुप, निर्द्वन्द।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 17 जुलाई, 1926। **परिमल** में संकलित]

रेखा

यौवन के तीर पर प्रथम था आया जब
स्रोत सौन्दर्य का,
वीचियों में कलरव सुख चुम्बित प्रणय का
था मधुर आकर्षणमय,
मज्जनावेदन मृदु फूटता सागर में
वाहिनी संसृति की
आती अज्ञात दूर चरण चिह्न-रहित
स्मृति रेखाएँ पार कर,
प्रीति की प्लावन-पटु,
क्षण में बहा लिया
साथी मैं हो गया अकूल का,
भूल गया निज सीमा,
क्षण में अज्ञानता को सौंप दिये मैंने प्राण
बिना अर्थ,—प्रार्थना के।

तापहर हृदय-वेग
लग्न एक ही स्मृति में;
कितना अपनाव?
प्रेमभाव बिना भाषा का,
तानतरल कम्पन वह बिना शब्द-अर्थ की
उस समय हृदय में
जो कुछ बह आता था,
हृदय से चुपचाप
प्रार्थना के शब्दों में
परिचय बिना भी यदि
कोई कुछ कहता था,
अपनाता मैं उसे।

चिर-कालिक कालिमा
जड़ता जीवन की चिर-सञ्चित थी दूर हुई।
स्वच्छ एक दर्पण—
प्रतिबिम्बों की ग्रहण-शक्ति सम्पूर्ण लिये हुए;
देखता मैं प्रकृति चित्र,—
अपनी ही भावना की छायाएँ चिर-पोषित।
प्रथम जीवन में
जीवन ही मिला मुझे चारों ओर।
आती समीर
जैसे स्पर्श कर अंग एक अज्ञात किसी का,
सुरभि सुमन्द में हो जैसे अंगराग-गन्ध,
कुसुमों में चितवन अतीत की स्मृति-रेखा—
परिचित चिर-काल की,
दूर चिरकाल से;
विस्मृति से जैसे खुल आयी हो कोई स्मृति
ऐसे ही प्रकृति यह
हरित निज छाया में
कहती अन्तर की कथा
रह जाती हृदय में।

बीते अनेक दिन
बहते प्रिय-वक्ष पर ऐसे ही निरुपाय
बहु-भाव-भंगों की यौवन-तरंगों में।

निरुद्देश मेरे प्राण
दूर तक फैले उस विपुल अज्ञान में
खोजते थे प्राणों को,
जड़ में ज्यों वीतराग चेतन को खोजते।

अन्त में
मेरी ध्रुवतारा तुम
प्रसरित दिगन्त से
अन्त में लायीं मुझे
सीमा में दीखी असीमता—
एक स्थिर ज्योति में
अपनी अबाधता
परिचय निज पथ का स्थिर।

वक्ष पर धरा के जब
तिमिर का भार गुरु
पीड़ित करता है प्राण,
आते शशांक तब हृदय पर आप ही,
चुम्बन-मधु-ज्योति का, अन्धकार हर लेता।
छाया के स्पर्श से
कल्पित सुख मेरा भी प्राणों से रहित था,—
कल्पना ही एक
दूर सत्य के आलोक से,
निर्जन-प्रियता में था मौन-दुःख साथी बिना।
प्रतिमा सौन्दर्य की
हृदय के मञ्च पर
आयी न थी तब भी,
पत्र-पुष्प-अर्घ्य ही
सञ्चित था हो रहा
आगम-प्रतीक्षा में,—
स्वागत की वन्दना ही
सीखी थी हृदय ने।

उत्सुकता वेदना
भीति, मौन, प्रार्थना
नयनों की नयनों से,

सिञ्चन सुहाग—प्रेम,
दृढ़ता चिबुक की,
अधरों की विह्वलता,
भ्रू-कुटिलता, सरल हास,
वेदना कण्ठ में,
मृदुता हृदय में,
काठिन्य वक्षस्थल में,
हाथों में निपुणता,
शैथिल्य चरणों में,
दीखी नहीं तब तक
एक ही मूर्ति में
तन्मय असीमता।

सृष्टि का मध्यकाल मेरे लिए।
तृष्णा की जागृति का
मूर्त राग नयनों में।
हुताशन विश्व के शब्द-रस-रूप-गन्ध
दीपक-पतंग-से अन्ध थे आ रहे
एक आकर्षण में
और यह प्रेम था!
तृष्णा ही थी सजग
मेरे प्रति रोम में।
रसना रस-नाम-रहित
किन्तु रस-ग्राहिका!
भोग—वह भोग था,
शब्दों की आड़ में
शब्द-भेद प्राणों का—
घोर तम सन्ध्या की स्वर्ण-किरण-दीप्ति में!
शत-शत वे बन्धन ही
नन्दन-स्वरूप-से आ
सम्मुख खड़े थे!—
स्मितनयन, चञ्चल, चयनशील,
अति-अपनाव-मृदु भाव खोले हुए!
मन का जड़त्व था,
दुर्बल वह धारणा चेतन की
मूर्च्छित लिपटती थी जड़ों से बारम्बार।

सबकुछ तो था असार
अस्तु, वह प्यार ?—
सब चेतन जो देखता,
स्पर्श में अनुभव—रोमांच
हर्ष रूप में-—परिचय,
विनोद; सुख गन्ध में,
रस में मज्जनानन्द,
शब्दों में अलंकार,
खींचा उसी ने था हृदय यह,
जड़ों में चेतन-गति कर्षण मिलता कहाँ ?

पाया आधार
भार-गुरुता मिटाने को,
था जो तरंगों में बहता हुआ,
कल्पना में निरवलम्ब,
पर्यटक एक अटवी का अज्ञात,
पाया किरण प्रभात—
पथ उज्ज्वल, सहर्ष गति ।

केन्द्र दो आ मिले
एक ही तत्व के,
सृष्टि के कारण वे,
कविता के काम-बीज ।
कौन फिर फिर जाता ?
बँधा हुआ पाश में ही
सोचता जो सुख-मुक्ति कल्पना के मार्ग से,
स्थित भी जो चलता है,
पार करता है गिरिश्रृंग, सागर-तरङ्ग,
अगम गहन अलंघ्य पथ,
लावण्यमय सजल,
खोला सहृदय-स्नेह ।

आज वह याद है वसन्त,
जब प्रथम दिगन्त-श्री
सुरभि धरा के आकांक्षित हृदय की,
दान प्रथम हृदय को

थी ग्रहण किया हृदय ने;
अज्ञात भावना,
सुख चिर-मिलन का,
हल किया प्रश्न जब सहज एकत्व का
प्राथमिक प्रकृति ने,
उसी दिन कल्पना ने
पायी सजीवता।
प्रथम कनक रेखाप्राची के भाल पर
प्रथम शृंगार स्मित तरुणी वधू का,
नील गगन विस्तार कश,
किरणोज्वल नयन नत,
हेरती पृथ्वी को।

[रचनाकाल : 2 फरवरी, 1927। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1928, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

रेखा
(अप्रकाशित 'रेखा' से)

विपुल निर्जनता का शान्त स्वर
भर रहा था अन्तर में,
दिवस का उज्ज्वल प्रसाद
शान्त भाव से
तिमिर-विषाद में हो आ रहा ज्यों
ज्योति तू, पथ की परिचायिका,
अयि प्रिया,
जीवन के कानन की,
अन्धकार भ्रान्ति में,
श्लथ-पद, उद्देश-भवन,
वैभव-विहीन उन्माद-मन-पथिक की
तारा ज्योतिर्मयी !
पथ दिखलाती उसे
लायी निज मार्ग पर।

फिर भी वह चंचल बना रहा !
काल वैसा ही था, बालपन;
हाँ, नहीं,
सम्राट् यौवन
किशोरता की केलि को, चूम मुख
विदा थे कर चुके,
रक्खा था गौरव-पद अपने सोपान पर।
अविचल थे,
पौरुषोन्मेष कुछ लिये हुए,
चिन्ता कुछ एक थी
उन्नत ललाट पर, राज-चिह्न,
साम्राज्य-शासन की
कुटिल, लिपटी हुई।
पीछे आ रहा था दल
अनुचरों का,
गर्व से स्फीत वक्ष,
रक्षक शरीर के।

याद है, एक दिन, उसी समय,
उतर रहे थे मेघ
मेदिनी के हृदय पर,
हर्षित रोमांच से
सिहर उठे थे तृण,
गुरु-भार-कम्पित,
धारा का वक्ष बार-बार
विह्वल था प्रणय से,
पल्लव-कपोलों में
उत्सुकता थी खुली,—
चुम्बन की सूचना,—
कम्पन-अनिच्छा में
प्रेयसी का प्रगट भाव,
कुसुम-नयनों में सरल
मौन आग्रह-भरा।
वायु में अचिर आलाप था बह रहा,
चंचल करता शरीर,
मन अधीर बार-बार।

फैला समुत्सुक पंख
ऊर्ध्व पथ पर उड़ता मैं
देखने को तरल विस्तार घन तम का—
प्रसरित दिगन्त तक माया की प्रेमराशि।
मौन आश्वासन था
पथिकों की दृष्टि की उत्कच उत्कण्ठा में,
शान्ति की सघन तरुछाया में खड़े वे
मन थे सौंपे हुए गृह की सीमा में
प्रियतमा को चुपचाप।
उड़ते विहंग दृष्टि नत
नीड़ पर लगी।
प्रेम की असीमता ने
प्लावित कर दी सीमा
बन्धन आनन्दमय हो रहा।
चमत्कार पुच्छ आवर्तन कर बार-बार
नाचते मयूर ऊर्ध्वमुख
घटा देखकर,
बन-छटा दीर्घकाल
सहती हुई विरह मौन
आज हर्षोत्साह में
तैर प्रेम-वीचियों को
पार करना चाहती
अपनी हरीतिमा
चिरसंचित हृदय की।
कृषक-दल हर्षोत्फुल्ल हो रहे,
सरल मुखमण्डल में
लालसा की छायी तृप्ति
भिक्षुक के स्वप्न-सी, अनाकांक्षित,
सुख-मुक्ति दीन की
चिर-ऋण के पाश से।
भाषा अव्यक्त एक
अगणित मृदु भावों से
खोले हुए था प्रेम, दिगम्बर।

अधर में मेरे वह
प्रथम रोमांच था,

आँखो में प्रथम ही
आयी थी पूर्व स्मृति,
हृदय में प्रथम प्रकाश अज्ञात का,
बहते बादलों से ही
बह गया दूर मैं—
खो गया मेरा सब
प्रिय, प्रथम दान में !

['इन्दु', मासिक, बनारस सिटी, अप्रैल, 1927। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

रेखा

[1]

रेखा जीवन की ! —
अयि प्रथम परिचय की प्रिया ! —
ज्योति में अपनी जब
स्वप्न एक सुप्ति की सजल,
चिर-चन्द्रिका, कुमारी तू
नग्न-पद,
आयी अयि चंचल,
हृदय के सब सुप्त दल खुल गये,
अन्ध अन्तर में वह प्रथम प्रभात आया।
विकसित हृदय के स्थिति-लोहित सरोज पर
स्थित-पद, अम्लान-मुख,
देवी-सी, प्रथम अपनाव की
अति मधुर दृष्टि से
देखती हुई मुझे अपनाया।
चिरकालिक अन्धता
अपनी विभूति की,
मलिनता प्रेम की,
नश्वरता शाश्वत की
घृणा निज अंगों से
दूर हुई,

ज्योति में तेरी प्रिय
परिचय अपना हुआ,--
उसी दिन देखा था मैंने ऐश्वर्य निज,
शक्ति निज,
निज अमूल्य वैभव का फैला संसार
और समझा था,
मेरी ही अनघता ने
अनघ रक्खा था इन्हें—
मेरा वसन्त वह
आती दिगन्त से है कूक कोकिल की जहाँ,
मेरी अमावस्या वह
जीव हैं निर्जीव जहाँ
जड़ पिण्डवत् पड़े,
लुप्त बुद्धि, हृदय में
बहता है घोर मोह,
देखा था मैंने वह
भीतर बाहर का साम्य,
भीतर के कलुष की
बाहर आकृति खड़ी,
भीतर के प्रेम का
बाहर परिपुष्ट रूप।
सहम गया मैं देख
चारों ओर अपना भाव।
अपरिचित वैभव से व्याकुल हुए जब प्राण,
देखा उन नयनों को,
चेतन, सुकुमार,
मृदुल सुख की तरंगों पर,
छुटी भाषा से वह एकटक दृष्टि ही
याद है अब तक मुझे।
प्रथम ही मेरा विकास था।
सदियों तक लगातार,
पीड़ित पद-दलित मैं एक ओर पड़ा हुआ,
आँसू बहाता चुपचाप,
था सहता जो अत्याचार,
अपने ही ताप से, तनु, मुरझाया हुआ,
दीनता के अंक पर शीर्ण था पड़ा हुआ

"क्षमा करो, दया करो" धर्म था,
कर्म था क्रन्दन,
सुख-मौन एक महाज्ञान,
पूर्वजों के मान पर दम्भ अस्तित्व था,
दास्य थी जीविका,
अपनों से ईर्ष्या प्रभु-भक्ति थी,
शक्ति थी जर्जर पर अविचल पाद-प्रहार,
जीवन पर-निन्दा थी
धर्म-ढोंग निष्ठा दृढ़,
दूसरों की शक्ति थी अपना उपाय एक,
अन्ध-परम्परा बस एक लक्ष्य जीवन का,
मृत रीति-नीतियाँ ही अपना उद्धार-पथ।
क्षणिक प्रवाह में बह गया अन्धकार,
लुप्त अस्तित्व,
भासमान एकमात्र ज्ञान, उज्वल आनन्द,
सुख-पूरित प्रभात,
केलि-रश्मियों की रह गयी।*

* (अप्रकाशित 'रेखा' से)

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1927। असंकलित]

हताश

जीवन चिरकालिक क्रन्दन।
मेरा अन्तर वज्रकठोर,
देना जी भरसक झकझोर,
मेरे दुख की गहन अन्ध-
तम-निशि न कभी हो भोर,
क्या होगी इतनी उज्ज्वलता—
इतना वन्दन—अभिनन्दन ?
हो मेरी प्रार्थना विफल,
हृदय कमल के जितने दल

मुरझायें, जीवन हो म्लान,
शून्य सृष्टि में मेरे प्राण
प्राप्त करें शून्यता सृष्टि की,
मेरा जग हो अन्तर्धान,
तब भी क्या ऐसे ही तम में
अटकेगा जर्जर स्यन्दन ?

[रचनाकाल : 22 अक्तूबर, 1927। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

नेत्र

एक दूसरे के दुख में सहृदय,
एक दूसरे के सुख में अम्लान,
एक दूसरे के भय में मृदुमय,
भरता सहृदयता-समता सुख प्राण।

एक दूसरे के बन्धन में बन्द,
एक दूसरे के मोचन में मुक्त,
एक दूसरे का जीवन आनन्द,
एक दूसरे के अन्तर से युक्त।

एकता के ये मनोहर चित्र दो,
एक पथ के पथिक प्रियतम मित्र दो,
एक ही होकर रहे जब तक रहे,
एक ही जीवन मरण, सुख-दुख सहे।

['वीणा', मासिक, इन्दौर, मार्गशीर्ष, संवत् 1984 वि. (नवम्बर-दिसम्बर, 1927)। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

प्रतिध्वनि

जीवन के सम्मोहन मन के वन के
प्राण-विटप के स्पर्श-करुण कम्पन से
हिलते, आपस में खुलकर नयनों में
मिलते हैं प्रतिक्षण जो, शत चयनों में

संचित मधु भर करते औरों को सुमधुर प्रिय
मुग्ध मनोहर लुब्ध क्षुब्ध उद्वेलित सक्रिय,
प्रति मुहूर्त भरते रहते अपनी मृदु प्रतिध्वनि—
सुन्दरता में पुष्प बाह्य, आन्तरिक शब्द-मणि।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1928। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

जागरण

प्रथम विजय थी वह—
भेदकर मायावरण
दुस्तर तिमिर घोर —जड़ावर्त—
अगणित-तरंग-भंग—
वासनाएँ समल निर्मल—
कर्दममय राशि-राशि
स्पृहाहत जंगमता—
नश्वर संसार—
सृष्टि-पालन-प्रलय-भूमि—
दुर्दम अज्ञान-राज्य—
मायावृत 'मैं' का परिवार—
पारावार-केलि-कौतूहल
हास्य-प्रेम-क्रोध-भय—
परिवर्तित समय का—
बहु-रूप-रसास्वाद—
घोर-उन्माद-ग्रस्त,
इन्द्रियों का वारम्वार बहिरागमन,

स्खलन, पतन, उत्थान— एक
अस्तित्व जीवन का—
महामोह,
प्रतिपद पराजित भी अप्रतिहत बढ़ता रहा,
पहुँचा मैं लक्ष्य पर।
अविचल निज शान्ति में
क्लान्ति सब खो गयी—
डूब गया अहंकार
अपने विस्तार में—
टूट गये सीमा-बन्ध—
छूट गया जड़-पिण्ड—
ग्रहण देश-काल का,
निर्बीज हुआ मैं—
पाया स्वरूप निज,
मुक्ति कूप से हुई,
नीड़स्थ पक्षी की
तम-विभावरी गयी—
विस्तृत अनन्त पथ
गगन का मुक्त हुआ;
मुक्त पङ्ख उज्ज्वल प्रभात में;
ज्योतिर्मय चारो ओर
परिचय सब अपना ही!
स्थित मैं आनन्द में चिरकाल
जाल-मुक्त। ज्ञानाम्बुधि
वीचिरहित। इच्छा हुई सृष्टि की,
प्रथम तरंग वह आनन्द-सिन्धु में,
प्रथम कम्पन में सम्पूर्ण बीज सृष्टि के,
पूर्णता से खुला मैं पूर्ण सृष्टि-शक्ति ले,
त्रिगुणात्मक रचे रूप,
विकसित किया मन को,
बुद्धि, चित्त, अहंकार, पञ्चभूत,
रूप-रस-गन्ध-स्पर्श,
शब्दज संसार यह,
वीचियाँ ही अगणित शुचि सच्चिदानन्द की।
फैला प्रकाश मेरा आदियुग,
सत्य समुद्भासमान,

अल्प अज्ञान ज्ञान-राशि में,
स्वर्णालोक शोक हर लेता था—
देता था हृदय को चिरसञ्चित हृदय का प्रेम,
अक्लेद, अल्पभेद,
प्रस्फुट गुलाब-सा
कण्टक-संयुक्त भी कोमल-तनु मन्द-गन्ध।
स्पर्श मधुर अधरों को,
नयनों को दर्शन-सुख,
उपकरण नहीं थे अनेक,
एक आभरण प्रेम था।
मन के गगन के
अभिलाष-घन उस समय,
जानते थे वर्षण ही—
उद्गीरण वज्र नहीं।
वेदना में प्रेम था, अपनापन,
रसना न भोग की,
आकर्षण घोर निज ओर का—
न निर्दय मरोर था।
अन्त में अनन्त की
प्रथम विभूति वह
मुग्ध नहीं करती थी।
बाँधकर पाश से
विपथगामी न कभी करती थी पथिक को।
अपना शरीर, निजता का सर्वस्व मन
वारती थी सेवा में, सत्य-आदर्श की
ज्योति वह दिखाती थी,
सञ्चालित करती थी उसी ओर,
सहज भाषा में
समझाती थी ऊँचे तत्त्व
अलङ्कार-लेश-रहित, श्लेष-हीन,
शून्य विशेषणों से—
नग्न-नीलिमा-सी व्यक्त
भाषा सुरक्षित वह वेदों में आज भी—
मुक्त छन्द,
सहज प्रकाशन वह मन का—
निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र।

हरित पत्रों से ढके
श्यामल छाया के वे
शान्ति के निविड़ नीड़,
मलयज सुवास स्वच्छ,
पुष्प-रेणु-पूरित वे आश्रम-तपोवन,
शुचि सरल सौन्दर्य के अनुपम पावन स्वरूप
प्रांगण विभूति का—
बालिका की क्रीड़ा-भूमि—
कल्पना की धन्य-गोद—
सभ्यता का प्रथम विकास-स्थल।
धवल पताका देवत्व की,
ज्योतिर्मात्र, अशरीर,
चिर अधीरता पर
विजय-गर्व से उड़ती हुई
व्योम-पथ पर
'सोऽहम्' का शान्त स्वर
भरा हुआ प्रतिमुख में,
'अण्वप्युचितम्' विशाल हृदय,
मुक्त द्वार खुला था
सदा ही संसार को
शिक्षा देने के लिए
'तत्त्वमसि' महाज्ञान।
विश्व-विद्यालय के वे
प्रथम स्तम्भ—विटप-मूल, छायाछन्द,
शिक्षा उदारता,
विश्लेषण चरम एकत्व का बहुत्व में—
परमाणुओं के प्रतिघातों से बचने को
पूजा-भाव, भेद-समर-नाशक,
विज्ञान आनन्दप्रद—
पावन वह वन-भूमि।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 17 मार्च, 1928। **परिमल** में संकलित]

प्रभाती

प्रिय, मुद्रित दृग खोलो !
गत स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल
नव किरणों से धो लो—
मुद्रित दृग खोलो !

जीवन - प्रसून वह वृन्त - हीन
खुल गया उषा - नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति - सुरभि उर भर
बह चलीं चतुर्दिक कर्म - लीन,

तुम भी निज तरुण-तरङ्ग खोल
नव - अरुण - सङ्ग हो लो—
मुद्रित दृग खोलो !

वासना - प्रेयसी बार - बार
श्रुति - मधुर मन्द स्वर से पुकार
कहती, प्रतिदिन के उपवन के
जीवन में, प्रिय, आयी बहार,
बहती इस विमल वायु में
बह चलने का बल तोलो—
मुद्रित दृग खोलो !

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर वैशाख, संवत् 1985 वि. (अप्रैल-मई, 1928)। **परिमल** में संकलित]

'सरोज' के प्रति

श्यामल कूलों के सुख-दुख के
बहते सदा ही प्राण
ऊर्मि संघातोद्धत अप्रतिहत,
उज्ज्वल, अछोर चिर-निर्मल सागर की ओर।

नर-नारियों की कितनी ही वन्दनाएँ मुखर,
कितने ही गान, ज्योत्स्ना के प्राण,
नीरव आह्वान शून्य हृदय के,
भासमान अर्घ्य पुष्प-चन्दन-समर्पित वे,
कितना मौन-गुरु भार,
दग्ध संसार के जीवन कितने ही चटुल,
करुण कितने वे नयन,
अश्रु असफलता के,
कितने असार हृदय
पार की आशा से आते हैं साथ तव, स्रोत : स्वति !
मिलते असीम में।
केवल सरोज तुम
काँपते भी इतने प्रहारों से
सविरत प्रवाह में शीर्ण एक ताल पर—
दुर्बल आधार—
रहते हो सदा ही अचल
अपने विश्वास पर।
इसीलिए खुलता प्रभात,
बीत जाती दुख-रात तव,
सिद्ध, भगवान भुवन-भास्कर जगाते तुम्हें,
खोल नयन देखते हो,
किरणों से प्लावित
निस्सीम नभ हर्ष भर;
साधना से पास ही
मिलते असीम से।

['सरोज', मासिक, कलकत्ता, ज्येष्ठ, संवत् 1985 वि. (मई-जून, 1928)। **असंकलित कविताएँ में संकलित**]

विस्मृत-भोर

जीवन की गति कुटिल अन्ध-तम जाल;
फँस जाता हूँ, तुम्हें नहीं पाता हूँ प्रिय,
आता हूँ पीछे डाल—

रश्मि-चमत्कृत स्वर्णालंकृत नवल प्रभात,
पुलकाकुल अलि-मुकुल-विपुल हिलते तरु-पात,
हरित ज्योति-जल-भरित सरित, सर, प्रखर प्रपात,
वह सर्वत्र व्याप्त जीवन से अलक-विचुम्बित सुखकर वात,
जगमग जग में पग-पग एक निरञ्जन आशीर्वाद,
जहाँ नहीं कोई भय-बाधा, कोई वाद-विवाद,
बढ़ जाता
प्रति-श्वास-शब्द-गति से उस ओर,
जहाँ हाय, केवल श्रम, केवल श्रम,
केवल श्रम, कर्म कठोर—
कुछ ही प्राप्ति, अधिक आशा का
कुटिल अधीर अशान्त मरोर;
केवल अन्धकार, करना वन पार
जहाँ केवल श्रम घोर।
स्वप्न प्रबल विज्ञान, धर्म, दर्शन,
तम-सुप्ति शान्ति, हा भोर
कहाँ जहाँ आशाओं ही की
अन्तहीन अविराम हिलोर ?
मेरी चाहें बदल रहीं नित आहों में
क्या चाहूँ और ?
मुझे फेर दो प्रभो, हेर दो
इन नयनों में भूला भोर !

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1929। **परिमल में संकलित**]

वासन्ती

अति ही मृदु गति ऋतुपति की
प्रिय डालों पर, प्रिय, आओ,
पिक के पावन पंचम में,
गाओ, वन्दन - ध्वनि गाओ !

प्रिय, नील - गगन - सागर तिर,
चिर, काट तिमिर के बन्धन,
उतरो जग में, उतरो फिर,
भर दो, पग - पग नव स्पन्दन !

सिहरे द्रुम - दल, नव पल्लव
फूटें डालों पर कोमल,
लहरे मलयानिल, कलरव
भर लहरों में मृदु - चंचल !

मुद्रित - नयना - कलिकाएँ
फिर खोल नयन निज हेरें,
पर मार प्रेम के आयें,
अलि, बालाएँ मुँह फेरें !

फागुन का फाग मचे फिर,
गावें अलि गुञ्जन - होली,
हँसती नव हास रहें घिर,
बालाएँ डालें रोरी !

मञ्जरियों के मुकुटों में
नव नीलम आम - दलों के
जोड़ो मञ्जुल घड़ियों में
ऋतुपति को पहनाने को
झुक डालों की लड़ियों में।

अयि, पल्लव के पखनों पर
पालो कोमल तन पालो,
आलोक - नग्न पलकों पर
प्रिय की छवि खींच उठा लो।

भर रेणु - रेणु में नभ की,
फैला दो जग की आशा,
खुल जाय खिली कलियों में
नव - नव जीवन की आशा।

प्रिय, केशर के रञ्जन की
मसि से पत्रों पर लिख दो—
"जग, है लिपि यह नूतन की
सिख लो, तुम भी कुछ सिख लो!

"अति गहन विपिन में जैसे
गिरि के तट काट रही हैं
नव - जल - धाराएँ, वैसे
भाषाएँ सतत बही हैं।"

फिर वर्ष सहस्र पथों से,
आया हँसता - मुख आया,
ऋतुओं के बदल रथों से
लाया तुमको हर लाया!

हाँ, मेरे नभ की तारा
रहना प्रिय, प्रति, निशि रहना,
मेरे पथ की ध्रुव धारा
कहना इंगित से कहना!

मैं और न कुछ देखूंगा
इस जग से मौन रहूँगा,
बस नयनों की किरणों में
लख लूँगा, कुछ लख लूँगा!

नव किरणों के तारों से
जग की यह वीणा बाँधो,
प्रिय, व्याकुल झंकारों से,
साधो, अपनी गत साधो!

फिर उर - उर के पथ बन्धुर,
पग - द्रवित मसृण ऋजु कर दो,
खर नव युग की कर - धारा
भर दो द्रुत जग में, भर दो!

फिर नवल कमल - वन फूलें
फिर नयन वहाँ पथ भूलें,
फिर फूलों नव वृन्तों पर
अनुकूलें अलि अनुकूलें।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 9 फरवरी, 1929। **परिमल** में संकलित]

वसन्त-समीर

आओ, आओ, नील सिन्धु की
कम्प, तरंगों से उठकर
पृथ्वी पर, वन की वीणा में
मृदु मर्मर भर मर्मर स्वर।

भरो पुलक नव-प्रेम-प्रकम्पित
कामिनियों के नव तन में,
खोलो नवल प्रात मुख ढक-ढक
अलख - बादलों से, क्षण में।

नवल प्राण नव गान गगन में
फूटें नवल वृन्त पर फूल।
भरें जागरण की किरणों से
जग के जीवन के युग फूल।

इसी प्रखर नव कर - धारा में
अपनी नौका की पतवार
पकड़ूँ दृढ़, अनुकूल रहो तुम
पहुँचूँ प्रिय, जीवन के पार।

चीर विषम प्रतिकूल तरंगें,
भीम भयंकर भँवर गहन,
दृढ़ सहता निस्संग मौन रह,
ज्योति-सिन्धु-ज्वाला असहन।

वहाँ कहाँ कोई अपना ? सब
सत्य - नीलिमा में लयमान;
केवल मैं, केवल मैं, केवल
मैं, केवल मैं, केवल ज्ञान।

भुवन - भुवन की भवन-यूथिका
खोल रही, दृग खोल रही,
चंचल तव कर-चपल स्पर्श से
डोल रही, मृदु डोल रही।

फिर वासन्ती अखिल लोक में
ज्योत्सना का होता अभिसार,
विकल पपीहा-वधू डाल पर
पिया कहाँ, कह, रही पुकार।

निशा-हृदय के स्वप्न - लोक में
लघु पंखों से उड़ जाओ।
हिला हृदय, फिर जिला प्रेम नव,
चूम अधर द्रुत फिर आओ।

पुष्प - मंजरी के उर की प्रिय
गन्ध मन्द गति ले आओ।
नव-जीवन का अमृत-मन्त्र-स्वर
भर जाओ, फिर भर जाओ।

यदि आलस से विपथ नयन हों
निद्राकर्षण से अति दीन,
मेरे वातायन के पथ से
प्रखर सुनाना अपनी बीन।

वीणा की नव चिर-परिचित तव
वाणी सुनकर उठूँ तुरन्त,
समझूँ जीवन के पतझड़ में
आया हँसता हुआ वसन्त।

मुरझाया था जग पतझड़ में
आया था चिन्ता का काल,
द्रुम-ललाट से प्रतिपल झरते
शिशिर-बिन्दु-श्रम शिथिल सकाल,

विकृत अंग, सत्र रिक्त अंग था
प्रजा हुई थी दीन मलीन,
सब जग निज जीवन की जटिल
समस्या ही पर था तल्लीन,

उसी समय दी खोल हृदय की
ग्रन्थि, खुल गये उर के द्वार,
देखा, नव-श्री-सुख-शोभा से
लहराता जग विविध प्रकार।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 16 फरवरी, 1929। **परिमल** में संकलित]

स्मृति-चुम्बन

बाल्य के स्वप्नों में करता विहार;
स्वर्ण-रेणुओं का छाया यह सारा संसार
था मेरे लिए सोने का
चंचल आलोक-स्पन्द : —
तैरतीं आनन्द में वे
बालिकाएँ मेरे सब संग की कुमारियाँ,
अगणित परागों की,
राग थीं मिलाती मृदु वीचियों में वायु की;
शिथिल कर देह
बह जातीं अविराम
कहाँ जाने किस देश में ! —
इंगित कर मुझको
बुलाती थीं बार-बार,
प्यार ही प्यार का
चुम्बन संसार था।

सोने के प्रभात की
किरणें सुनहली थीं चूमती
सोने के पुष्पों-पत्रों के अधर;
सोने के निर्झर
प्रति-चरण चूम-चूम तट
मिलते थे सरिता से
चुम्बन का अन्त ज्यों,
देते सर्वस्व निज
छोड़ क्षुद्र सीमा-वन्ध।
पलकों के नीड़ से
सोने के नभ में
उड़ जाते थे नयन, वे
चूमकर असीम को
लौटते आनन्द भर।
ज्योति का पारावार
पार करते ही हुए,
डूब जाते कभी वे
सुप्ति के मोह में
चुम्बन का स्वप्न ले।
देखता मैं बार-बार
ज्योति के ही चक्राकार
चुम्बन से चंचल हो उठता संसार
स्थिरता में गति फैलती—
भास होता ज्ञान का।
कैसे कहूँ, जीवन वह
मोह था, अज्ञान था।
जीवन के सारथी ने
पारकर रेखाएँ बाल्य के मार्ग की
रोका रथ एकाएक यौवन के कानन में।
गति भी वह कितनी धीर! —
शिशिर का जैसे निःशब्द अभिसार हो
शिविर में विश्व के।
ऐसे ही पार हुआ
बाल्य का कोमल पथ।
उठते पद नव दृश्य-
दर्शन-चुम्बन से नित।

कानन के द्वार पर
आया जब, पहले ही देखी वह हरित छवि
एक नव रूप में।
आया भर दूसरा ही
स्पन्दन तब हृदय में
अन्वेषण नयनों में,
प्राणों में लालसा।
समझ नहीं सका हाय !
कैसा निरुपाय वह जीवन बदल गया।
चारो ओर
पुष्प-युवती के कोर,
तरुण-दल अधर-अरुण,
जीवन-सुवास
मन्द गति से जा पास
देखा एक अपर लोक,
रोम-रोम में समायी जहाँ
चुम्बन की लालसा,
ज्योति नयन-ज्योति से
पलकों से पलक मिले,
कण्ठ कण्ठ से लगा हुआ
बाहुओं से बाहु,
प्राण प्राणों में मिले हुए।
यौवन के वन की वह मेरी शकुन्तला—
शारदीय चन्द्रिका दग्ध मरु के लिए—
सीमा में दृष्टि की असीम रस-रूप-राशि
चुम्बन से जीवन का प्याला भर दे गयी।
रिक्त जब होगा, भर देगी तत्काल स्मृति
काल के बन्धन में जीवन यह जब तक है।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 23 फरवरी, 1929। **परिमल** में संकलित]

प्रार्थना

जग को ज्योतिर्मय कर दो !
प्रिय कोमल-पद-गामिनि ! मन्द उतर
जीवन्मृत तरु-तृण-गुल्मों की पृथ्वी पर
हँस-हँस, निज पथ आलोकित कर,
नूतन जीवन भर दो ! —
जग को ज्योतिर्मय कर दो !

[‘मतवाला’, साप्ताहिक, कलकत्ता, 23 मार्च, 1929 (‘कामना’ शीर्षक से)। **परिमल** के आरम्भ में संकलित]

गीत

दूत, अलि, ऋतुपति के आये।
फूट हरित पत्रों के उर से
स्वर-सप्तक छाये।
दूत, अलि, ऋतुपति के आये।
काँप उठी विटपी, यौवन के
प्रथम कम्प मिस, मन्द पवन से,
सहसा निकल लाज-चितवन के
भाव-सुमन छाये।

बही हृदय-हर प्रणय-समीरण,
छोड़ छोर नभ-ओर उड़ा मन,
रूप - राशि जागी जगती - तन,
खुले नयन, भाये।

देख लोल लहरों की छल-छल,
सखियाँ मिल कहतीं कुछ कल-कल,
बही साँस में शीतल परिमल
तन-मन लहराये—

दूत, अलि, ऋतुपति के आये।

[‘मतवाला’, साप्ताहिक, कलकत्ता, 27 अप्रैल, 1929 (‘वाणी’ शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

गीत

निशा के उर की खुली कली।

भूषण - वसन सजे गोरे तन,
प्रीति-भीति काँपे पग उर - मन,
बाजे नूपुर रुन - रिन रन - झन,
लाज - विवश - सिहरी।

खड़ी सोचती नमित नयन-मुख,
रखती पग उर काँप पुलक-सुख,
हँस अपने ही आप सकुच धनि,
गति मृदु-मन्द चली।

मूँद पलक प्रिय की शय्या पर
रखते ही पग, उर धर-धर-धर
काँप उठा वन में तरु - मर्मर
चली पवन पहली।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 27 अप्रैल, 1929 ('वाणी' शीर्षक से)। **परिमल में संकलित**]

गीत

अलि, घिरि आये घन पावस के।

लख ये काले - काले बादल,
नील सिन्धु में खुले कमल-दल,
हरित ज्योति, चपला अति चञ्चल,
सौरभ के, रस के—
अलि, घिर आये घन पावस के।

द्रुत समीर-कम्पित थर थर थर,
झरतीं धाराएँ झर झर झर,

जगती के प्राणों में स्मर - शर
वेध गये, कसके—
अलि, घिरि आये घन पावस के।

हरियाली ने, अलि, हर ली श्री
अखिल विश्व के नव यौवन की,
मन्द - गन्ध कुसुमों में लिख दी
लिपि जय की हँसके—
अलि, घिरि आये घन पावस के।

छोड़ गये गृह जबसे प्रियतम
बीते अपलक दृश्य मनोरम,
क्या मैं हूँ ऐसे ही अक्षम,
क्यों न रहे बसके—
अलि, घिरि आये घन पावस के।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 4 मई, 1929 ('वाणी' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

गीत

हमें जाना है जग के पार।
जहाँ नयनों से नयन मिले,
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा ही बहती नव-रस-धार—
वहीं जाना, इस जग के पार।

कामना के कुसुमों को कीट
काट करता छिद्रों की छीट,
यहाँ रे सदा प्रेम की ईंट
परस्पर खुलती सौ-सौ बार—
हमें जाना इस जग के पार।

वहाँ अधरों को हास हिला
क्षुब्ध अधरों से रहा मिला,
साँस में सहसा प्रेम जिला,

बना देता उर को उर-हार—
हमें जाना जग के उस पार।

वहाँ नयनों में केवल प्रात,
चन्द्र-ज्योत्स्ना ही केवल गात,
रेणु - छाये ही रहते पात,
मन्द ही बहती सदा बयार,
हमें जाना इस जग के पार।

डाल सहसा संशय में प्राण
रोक लेते अपना मृदु गान,
यहाँ रे सदा प्रेम में मान,
ज्ञान में बैठा मोह असार—
हमें जाना जग के उस पार।

दूसरे को कस अन्तर तोल,
नहीं होता प्राणों का मोल,
वहाँ के बल केवल वे लोल
नयन दिखलाते निश्छल प्यार—
हमें जाना जग के उस पार।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 11 मई, 1929 ('वाणी' शीर्षक से)। **परिमल** में संकलित]

खेवा

डोलती नाव, प्रखर है धार,
सँभालो जीवन-खेवनहार!
तिर तिर फिर फिर
प्रबल तरंगों में
घिरती है,
डोले पग जल पर
डगमग डगमग
फिरती है,

टूट गयी पतवार—
जीवन-खेवनहार !
भय में हूँ तन्मय
थरथर कम्पन
तन्मयता,
छन-छन में
बढ़ती ही जाती है
अतिशयता,
पारावार अपार,
जीवन-खेवनहार !

[**परिमल** में संकलित]

युक्ति

"काल-वायु से स्खलित न होंगे
कनक-प्रसून ?
क्या पलकों पर विचरे ही गी
यौवन-धूम ?"

गत रागों का सूना अन्तर
प्रतिपल तब भी मेरा सुखकर
भर देगा यौवन—
मन ही सर्वसृजन।

मोह-पतन में भी तो रहते हैं हम
तम-कण चूम,
फिर ऐसी ही क्यों न रहेगी
यौवन-धूम ?

[**परिमल** में संकलित]

प्रिया के प्रति

[1]

एक बार भी यदि अजान के
अन्तर से उठ आ जातीं तुम,
एक बार भी प्राणों की तम-
छाया में आ कह जातीं तुम
सत्य हृदय का अपना हाल
कैसा था अतीत वह, अब यह
बीत रहा है कैसा काल।
मैं न कभी कुछ कहता,
बस, तुम्हें देखता रहता !
चकित, थकी, चितवन मेरी रह जाती
दग्ध हृदय के अगणित व्याकुल भाव
मौन दृष्टि की ही भाषा कह जाती।

[2]

तप वियोग की चिर ज्वाला से
कितना उज्ज्वल हुआ हृदय यह,
पिष्ट कठिन साधना-शिला से
कितना पावन हुआ प्रणय यह,
मौन दृष्टि सब कहती हाल,
कैसा था अतीत मेरा, अब
बीत रहा यह कैसा काल।
क्या तुम व्याकुल होतीं ?
मेरे दुख पर रोतीं ?
मेरे नयनों में न अश्रु प्रिय आता
मौन दृष्टि का मेरा चिर अपनाव
अपना चिर-निर्मल अन्तर दिखलाता।

[परिमल में संकलित]

भ्रमर-गीत

मिल गये एक प्रणय में प्राण,
मौन, प्रिय, मेरा मधुमय गान !

खिली थी जब तुम, प्रथम प्रकाश,
पवन-कम्पित नव यौवन हास,
वृन्त पर टलमल उज्ज्वल प्राण,
नवल - यौवन - कोमल नव ज्ञान,
सुरभि से मिला आशु आह्वान,
प्रथम फूटा प्रिय मेरा गान।

वन्य-लावण्य-लुब्ध संसार,
देखता छवि रुक वारम्वार,
सहज ही नयन सहस्र अजान
रूप-विधु का करते मधुपान,

मनोरंजन में गुंजन-लीन,
लुब्ध आया, देखा आसीन

रूप की सजल प्रभा में आज
तुम्हारी नग्न कान्ति,नव लाज,
मिल गये एक प्रणय में प्राण,
रुक गया प्रिय, तब मेरा गान।

[**परिमल** में संकलित]

कवि

सबके प्राणों का मोल
देती है प्रकृति जब खोल संसार में,
फैलती है वर्णों में स्वर्णच्छटा,
हृदय की तृप्त, प्यास,

दोनों एक साथ ही
उड़तीं वातास में—
वीचियों में तैरतीं अप्सर-कुमारियाँ।
जितने संसार के सुखमय जीवन के लोग,
भोग के विरोध में न आये, न गये कभी,
रहते रङ्गशाला के नायक बने हुए,
दैन्यहीन लीन रस-रूप में,
स्वार्थ-सुख छोड़ नहीं पाया कभी और ज्ञान,
अयि प्रकृति ! लेते हैं प्राण वे
अपने प्राणों के लिए—
रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—
काकली कोकिल की,
राग सान्ध्य षोड़सी का
निज भोग के लिए;
और कोई, कवि तुम, एक तुम्हीं,
बार-बार, झेलते सहस्रों वार
निर्मम संसार के,
दूसरों के अर्थ ही लेते दान,
महाप्राण ! जीवों में देते हो
जीवन ही जीवन जोड़,
मोड़ निज सुख से मुख।
विश्व के दैन्य से दीन जब होता हृदय,
सदयता मिलती कहीं भी नहीं,
स्वार्थ का तार ही दीखता संसार में,
मृत्यु की शृङ्खला ही
संसृति का सुष्ठु रूप,
धीर-पद अवनति ही
चरम परिणाम यहाँ,
काँप उठते तब प्राण
वायु से पत्र ज्यों,
हे महान् ! सोचते हो दुःख-मुक्ति,
शक्ति नव-जीवन की।
सूख जाता हृदय तव,
ज्वालाएँ नित्य नव उमड़तीं—
उस अनल-कुण्ड की
वाह्य रस-रूप राग

आहुति ही होते हैं,
मूर्त नवजीवन के रूप फिर निकलते
प्राणों के प्राण—
अभिधान शत वर्षों के—
हार्दिक आह्वान जहाँ आता है अखिल लोक
शोकातुर, पाता जीवन-विधान।
भरते हो केवल आस, प्यास,
अभिलाष नव शून्य निज हृदय में,
झोली में दैन्य की
प्रकृति का दान बहु !
रिक्त तत्काल कर
रहते हो रिक्त ही,
चिर-प्रसन्न ! चिरकालिक पतझड़ बने हुए।
देखता हूँ,
फूलते नहीं हैं फूल वैसे वसन्त में
जैसे तव कल्पना की डालों पर खिलते हैं—
अखिल-लोक-रञ्जन कर नर्तन
समीर में यति की, भ्रू-भङ्ग-लास,
रहते उल्लास में !
करते परिहास
खिली युवती कुमारियों से
हेर मृदु मन्द मधुर, उर से लगाते हैं,
फूटती है उनसे वह कितनी वियोग-व्यथा,
मिलनाग्रह कितना विहार एक वृन्त पर।
खुला हुआ नग्न चित्र
प्रिया और प्रियतम का;
चूमते समीर में
सहज मुख प्रेयसी का,
झूमती है देह,
मदिर बङ्किम वे नयन दोनों,
प्रेम की क्रीड़ाएँ कर
आप ही वे मौन-रूप
झड़ जाते वृन्त से
जैसे अचिन्त्य का सदा ही निज जीवन हो;—
विजन का पथिक
चुपचाप कहीं सो जाय।

प्राङ्गण में पावस के
झरते हैं धाराधर,
नव-यौवनाकुल
प्रेम-पुलकित पावन प्रकृति
रहती है झुकी हुई,
नूतन संयोग से
प्रियतम में लीन ज्यों
मौनमुखी कामिनी,
मन्द-मन्द रेखा उन अधरों के हास की
हर्षित छिपाती है हरित निज वास में,
नत-मस्तक भोगती प्रियतम का सङ्ग-सुख।
देखते तुम अनुपम विहार—
यह मुखरता मन में
भर देते वाणी में
अपनी सुहाग-राशि,
मिलनातुर कल्पनाएँ
शरत्-हेमन्त-शिशिर-पिकप्रिय-वसन्त की,
नश्वर को करते अविनश्वर तत्काल
तुम अपने ही अमृत के
पावन-कर-सिञ्चन से।

[**परिमल में संकलित**]

दूसरा दौर

बह चली अब अलि, शिशिर-समीर !

बह चली अब अलि, शिशिर-समीर !

काँपीं भीरु मृणाल वृन्त पर
नील - कमल - कलिकाएँ थर-थर,
प्रात-अरुण को करुण अश्रु भर
लखतीं अहा अधीर !

वन - देवी के हृदय - हार से
हीरक झरते हरसिंगार के,
बेध गया उर किरण - तार के
विरह - राग का तीर।

विरह - परी - सी खड़ी कामिनी
व्यर्थ बह गयी शिशिर - यामिनी,
प्रिय के गृह की स्वाभिमानिनी
नयनों में भर नीर !

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1929 । **गीतिका में संकलित**]

सोचती अपलक आप खड़ी

सोचती अपलक आप खड़ी,
खिली हुई वह विरह - वृन्त की
कोमल कुन्द-कली !

नयन नगन, नवनील गगन में
लीन हो रहे थे निज धन में,
यह केवल जीवन के वन में
छाया एक पड़ी।

आप वह गयी मृदुल समीरण
हिला वसन, कुछ गिरा स्वेद-कण
यह जैसी वैसी ही निर्जन
नभ में गहन गड़ी।

चमका हीरक-हार हृदय का,
पाया अमर प्रसाद प्रणय का,
मिला तत्त्व निर्मल परिणय का,
लौटी स्नेह-भरी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1929। गीतिका में संकलित]

छोड़ दो, जीवन यों न मलो

छोड़ दो, जीवन यों न मलो।
ऐंठ अकड़ उसके पथ से तुम
रथ पर यों न चलो।

वह भी तुम-ऐसा ही सुन्दर,
अपने दुख-पथ का प्रवाह खर,
तुम भी अपनी ही डालों पर
फूलो और फलो।

मिला तुम्हें, सच है अपार धन,
पाया कृश उसने कैसा तन!
क्या तुम निर्मल, वही अपावन?—
सोचो भी, सँभलो।

जग के गौरव के सहस्र - दल
दुर्बल नालों ही पर प्रतिपल
खिलते किरणोज्ज्वल चल-अचपल,
सकल-अमङ्गल खो—

वहीं विकट शत - वर्ष - पुरातन
पीन प्रशाखाएँ फैला घन
अन्धकार ही भरता क्षण - क्षण
जन-भय-भावन हो।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1929। **गीतिका** में संकलित]

मेरे प्राणों में आओ !

मेरे प्राणों में आओ !
शत शत, शिथिल, भावनाओं के
उर के तार सजा जाओ !

गाने दो प्रिय, मुझे भूलकर
अपनापन—अपार जग सुन्दर,
खुली करुण उर की सीपी पर
स्वाती-जल नित बरसाओ !

मेरी मुक्ताएँ प्रकाश में
चमकें अपने सहज हास में,
उनके अचपल भ्रू - विलास में
लास-रङ्ग - रस सरसाओ !

मेरे स्वर की अनल - शिखा से
जला सकल जग जीर्ण दिशा से
हे अरूप, नव - रूप - विभा के
चिर स्वरूप पाके जाओ !

['सुधा', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1930। **गीतिका** में संकलित]

याद रखना, इतनी ही बात

याद रखना, इतनी ही बात।
नहीं चाहते, मत चाहो तुम
मेरे अर्घ्य, सुमन-दल, नाथ!

मेरे वन में भ्रमण करोगे जब तुम,
अपना पथ-श्रम आप हरोगे जब तुम,
ढक लूँगी मैं अपने दृग-मुख,
छिपा रहूँगी गात।

सरिता के उस नीरव निर्जन तट पर
आओगे जब मन्द-चरण तुम चलकर,
मेरे शून्य घाट के प्रति, करुणाकर,
देखोगे नित प्रात।

मेरे पथ की हरित लताएँ, तृण-दल,
मेरे श्रम-सिञ्चित, देखोगे, अचपल,
पलकहीन नयनों से तुमको प्रतिपल
हेरेंगे अज्ञात।

मैं न रहूँगी जब, सूना होगा जग,
समझोगे तब, यह मङ्गल-कलरव सब
था मेरे ही स्वर से सुन्दर जगमग;
चला गया सब साथ।

['मारवाड़ी अग्रवाल', मासिक, कलकत्ता, फाल्गुन, संवत् 1986 वि. (फरवरी-मार्च, 1930)। गीतिका में संकलित]

पास ही रे, हीरे की खान

पास ही रे, हीरे की खान,
खोजता कहाँ और नादान ?

कहीं भी नहीं सत्य का रूप,
अखिल जग एक अन्ध - तम - कूप,
ऊर्मि - घूर्णित रे, मृत्यु महान,
खोजता कहाँ यहाँ नादान ?

विश्व तेरे नयनों से फूट,
प्रश्न चित्रों का फैला कूट;
साँस तेरी बनती तूफान,
बहा ले जाती तन - मन - प्राण,
डूब जाता तेरा जल - यान,
खोजता कहाँ यहाँ नादान ?

दैत्य - जड़ - दंष्ट्राओं के बीच
पीसता तू ही अपनी मीच;
उठा जब, उच्च; गिरा, तब नीच;
मिला, तो मृदुल; गया, पाषाण;
तुझी में सकल सृष्टि की शान,
खोजता कहाँ और नादान ?

चक्र के सूक्ष्म छिद्र के पार,
बेधना तुझे मीन, शर मार,
चित्त के जल में चित्र निहार,
कर्म का कार्मुक कर में धार,
मिलेगी कृष्णा, सिद्धि महान,
खोजता कहाँ उसे नादान ?

एक तू ही उर से रस खींच
भावनाओं के द्रुम - दल - बीच,
खोल देता दृग - जल से सींच
कामना की कलियों के प्राण;
बेचता तू ही रे निज ज्ञान,
खोजता फिरता फिर नादान ?

व्यर्थ की चिन्ता में चित डाल,
गूँथ अपना ही—माया - जाल,
फँसा पग अपने तू तत्काल
बुलाता औरों को बेहाल;
सकल तेरा आदान - प्रदान;
खोजता कहाँ उसे नादान ?

स्पर्श - मणि तू ही, अमल, अपार
रूप का फैला पारावार,
व्यष्टि में सकल सृष्टि का सार
कामिनी की लज्जा, शृङ्गार
खोलते खिलते तेरे प्राण,
खोजता कहाँ उसे नादान ?

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1930। **गीतिका** में संकलित]

कहाँ उन नयनों की मुसकान

कहाँ उन नयनों की मुसकान,
खोल देती द्रुत परिचय, प्राण ?

पल्लवित तनु की तन्वी ज्योति,
जगमगा जीवन के सब पात,
सहस्रों सुख स्मृतियों की तान
तरंगों में उठ, फिर - फिर काँप,
तड़ित पथ की - सी चकित अजान
खोल देती द्रुत परिचय, प्राण।

अर्थ से रहित दृष्टि अश्लेष,
शून्य में एक पूर्ण अवशेष,
प्रिया आजानु - विलम्बित - केश
शेष तनु में अशेष - निर्देश,
ज्ञान में भी पूरी नादान,
खोल देती द्रुत परिचय, प्राण।

विजन की श्री सुहाग अम्लान,
जाग, फिर कर प्रभात-सर-स्नान,
रेणु के राग किये शृंगार,
सहज जगमग जग रही निहार,
मौन पिक-प्रिय-उर में आह्वान
खोल देती द्रुत परिचय, प्राण।

[‘सुधा’, मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1930। **गीतिका** में संकलित]

प्यार करती हूँ अलि

प्यार करती हूँ अलि, इसलिए मुझे भी करते हैं वे प्यार।
बह गयी हूँ अजान की ओर, तभी यह बह जाता संसार।
रुके नहीं धनि, चरण घाट पर,
देखा मैंने मरण बाट पर,
टूट गये सब आट-ठाट, घर,
छूट गया परिवार।

आप बही या बहा दिया था,
खिंची स्वयं या खींच लिया था,
नहीं याद कुछ कि क्या किया था,
हुई जीत या हार।

खुले नयन जब, रही सदा तिर
स्नेह-तरंगों पर उठ-उठ गिर,
सुखद पालने पर मैं फिर-फिर
करती थी शृंगार।

कर्म-कुसुम अपने सब चुन-चुन,
निर्जन में प्रिय के गिन-गिन गुण,
गूँथ निपुण कर से, उनको, सुन,
पहनाया था हार।

[‘हंस’, मासिक, बनारस सिटी, अप्रैल, 1930। **गीतिका में संकलित**]

नयनों में हेर प्रिये

नयनों में हेर प्रिये,
मुझे तुमने ये वचन दिये—

'तुम्हीं हृदय के सिंहासन के
महाराज हो, तन के, मन के;
मेरे मरण और जीवन के
कारण-जाम पिये।

'मेरी वीणा के तारों में,
बँधे हुए हो झङ्कारों में,
उर के हीरों के हारों में
ज्योति अपार लिये।

'मेरे तप के तुम्हीं अमर वर,
हृदय-कम्प के जलद-मन्द्र स्वर,
मेरी तृष्णा के, करुणाकर,
तृप्ति-प्रेम-सर हे।'

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1930। **गीतिका में संकलित**]

कल्पना के कानन की रानी !

कल्पना के कानन की रानी !
आओ, आओ मृदु-पद, मेरे
मानस की कुसुमित वाणी !

सिहर उठें पल्लव के दल, नव अङ्ग;
बहे सुप्त परिमल की मृदुल तरङ्ग;
जागे जीवन की नव ज्योति अमन्द;
हिले वसन्त-समीर-स्पर्श से
वसन तुम्हारा धानी।

मार्ग मनोहर हो मेरे जीवन का;
खुल जाये पथ रूँधा कण्टक-वन का;
धुल जाये मल मेरे तन का, मन का;
देख तुम्हारी मूर्ति मनोहर
रहें ताकते ज्ञानी।

मेरे प्राणों के प्याले को भर दो;
प्रिये, दृगों के मद से मादक कर दो;
मेरी अखिल पुरातन-प्रियता हर दो;
मुझको एक अमर वर दो,
मैंने जिसकी हठ ठानी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1930। **गीतिका** में संकलित]

वह रूप जगा उर में

वह रूप जगा उर में
बजी मधुर वीणा जिस सुर में?

कहता है कोई, तू उठ अब,
खुले हृदय-शतदल के दल सब,
अर्घ्य चढ़ा उनको जो जब तब
आते हैं तेरे मधुपुर में—
वह रूप जगा सुर में।

अब तक मैं भूली थी क्या, बता,
उनका क्या यही सही है पता?
वे ही क्या, मेरे उर की लता
हिल उठती जिन्हें देख उर में—
वह रूप जगा सुर में?

['हंस', मासिक, बनारस सिटी, जून, 1930। **गीतिका** में संकलित]

स्पर्श से लाज लगी

स्पर्श से लाज लगी;
अलक-पलक में छिपी छलक
उर से नव-राग जगी।

चुम्बन-चकित चतुर्दिक चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख-छल,
कभी हास, फिर त्रास, साँस-बल
उर-सरिता उमगी।

प्रेम-चयन के उठा नयन नव,
विधु-चितवन, मन में मधु-कलरव;
मौन पान करती अधरासव
कण्ठ लगी उरगी।

मधुर स्नेह के मेह प्रखरतर,
बरस गये रस-निर्झर झरझर,
उगा अमर-अंकुर उर-भीतर,
संसृति-भीति भगी।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1930। **गीतिका** में संकलित]

दृगों की कलियाँ नवल खुलीं

दृगों की कलियाँ नवल खुलीं;
रूप-इन्दु से सुधा-विन्दु लह,
रह-रह और तुलीं।

प्रणय-श्वास के मलय-स्पर्श से
हिल-हिल हँसती चपल हर्ष से,
ज्योति-तप्त-मुख, तरुण वर्ष के
कर से मिलीजुलीं।

नहा स्नेह का पूर्ण सरोवर
श्वेत-वसन लौटीं सलाज घर
अलख सखा के ध्यान-लक्ष्य पर
डूबीं, अमल धुलीं।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, की फरवरी-जुलाई, 1930 वाली जिल्द के शुरू में प्रकाशित। **गीतिका** में संकलित]

कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना ?

कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना ?
सीखा केवल हँसना—केवल हँसना—
शुभ्र-किरण-वसना !

मन्द मलय भर अङ्ग-गन्ध मृदु
बादल अलकावलि कुञ्चित-ऋजु,
तारक हार, चन्द्र मुख, मधु ऋतु,
सुकृत-पुञ्ज-अशना।

नहीं लाज, भय, अनृत, अनय, दुख
लहराता उर मधुर प्रणय-सुख,
अनायास ही ज्योतिर्मय-मुख
स्नेह-पाश - कसना।

चञ्चल कैसे रूप-गर्व-बल
तरल सदा बहतीं कल-कल-कल,
रूप-राशि में टलमल-टलमल,
कुन्द-धवल - दशना।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1930। **गीतिका** में संकलित]

स्नेह की सरिता के तट पर

स्नेह की सरिता के तट पर
चल रही युगल कमल-घट भर।

नयन-ज्योति में ज्ञान अकम्पित,
चली जा रही नत-मुख, विकसित,
जीवन के पथ पर अविचल-चित,
छवि अपार सुन्दर।

तृष्णाकुल होंगे प्रिय, जाओ,
सलिल-स्नेह मिल मधुर पिलाओ,
सब दुख श्रम हर लाज-रूप धर
अपनाओ सत्वर।

एक स्वप्न तम-जग-नयनों में
खिला रही सुख-द्रुम अयनों में,
रचना-रहित वचन-चयनों में
चकित सकल श्रुतिधर।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1930। गीतिका में संकलित]

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?

जग के दूपित बीज नष्ट कर,
पुलक-स्पन्द भर, खिला स्पष्टतर,
कृपा-समीरण बहने पर, क्या
कठिन हृदय यह हिल न सकेगा ?

मेरे दुख का भार, झुक रहा,
इसीलिए प्रति चरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर, क्या
महाभार यह झिल न सकेगा ?

[‘सुधा’, मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1930। **गीतिका** में संकलित]

नर-जीवन के स्वार्थ सकल

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-सञ्चित सब फल।

जीवन के रथ पर चढ़कर,
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़कर,
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर;
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रुजल-धौत विमल,
दृग-जल से पा बल, बलि कर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-सञ्चित फल।

बाधाएँ आयें तन पर,
देखूँ, तुझे नयन-मन भर,
मुझे देख तू सजल दृगों से
अपलक, उर के शतदल पर;
क्लेदयुक्त अपना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि
सकल श्रेय—श्रम-सञ्चित फल।

[‘सुधा’, मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1931 (‘पद’ शीर्षक से)। **गीतिका** में संकलित]

मन चंचल न करो !

मन चंचल न करो !
प्रतिपल अंचल से पुलकित कर
केवल हरो,—हरो—(मन···)

तुम्हें खोजता मैं निर्जन में
भटकूँ जब घन जीवन-वन में,
भेद गहन तम मनोगगन में
ज्योतिर्मयि, उतरो !

मुँदे पलक जब निशा-शयन में,
लगे प्रबल मन कल्प-वयन में,
मिला उसे तुम मोह-अयन में
स्वप्न-स्वरूप धरो !

तुम्हीं रहो, मिल जाय जगत सब
एक तत्व में, ज्यों भव-कलरव,
ज्योत्स्नामयि, तम को किरणासव
पिला, मिला उर लो !

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1931 । **गीतिका** में संकलित]

वर दे, वीणावादिनि वरदे !

वर दे, वीणावादिनि वरदे !
प्रिय स्वतन्त्र-रव अमृत-मन्त्र नव
भारत में भर दे !

काट अन्ध-उर के बन्धन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष-भेद - तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे !

नव गति, नव लय, ताल-छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद - मन्द्ररव;
नव नभ के नव विहग - वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे !

['युवक', मासिक, पटना, सितम्बर, 1931 । **गीतिका** में संकलित]

प्रेम के प्रति

चिर-समाधि में अचिर-प्रकृति जब,
तुम अनादि तब केवल तम :
अपने ही सुख - इंगित से फिर
हुए तरंगित सृष्टि विषम।
तत्वों में त्वक् बदल - बदलकर
वारि, वाष्प ज्यों; फिर बादल,
विद्युत् की माया उर में, तुम
उतरे जग में मिथ्या - फल।
वसन वासनाओं के रँग रँग
पहन सृष्टि ने ललचाया,
बाँध बाहुओं में रूपों ने
समझा—अब पाया—पाया;
किन्तु हाय, वह हुई लीन जब
क्षीण बुद्धि - भ्रम में काया,
समझे दोनों, था न कभी वह
प्रेम, प्रेम की थी छाया।
प्रेम, सदा ही तुम असूत्र हो
उर - उर के हीरों का हार,
गूँथे हुए प्राणियों को भी
गुँथे न कभी, सदा ही सार।

[रचनाकाल : 20 फरवरी, 1932 । द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

जग का एक देखा तार

जग का एक देखा तार।
कण्ठ अगणित, देह सप्तक,
मधुर स्वर-झंकार।

बहु सुमन, बहुरंग, निर्मित एक सुन्दर हार;
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा - भार।
गन्ध - शत अरविन्द - नन्दन विश्व - वन्दन - सार,
अखिल-उर-रञ्जन निरञ्जन एक अनिल उदार।

सतत सत्य, अनादि निर्मल सकल सुख - विस्तार;
अयुत अधरों में सुसिञ्चित एक किञ्चित प्यार।
तत्व-नभ-तम में सकल-भ्रम-शेष, श्रम - निस्तार,
अलक - मण्डल में यथा मुख - चन्द्र निरलंकार।

['जागरण', पाक्षिक, काशी, 7 मार्च, 1932। गीतिका में संकलित]

नयनों के डोरे लाल गुलाल-भरे…

नयनों के डोरे लाल गुलाल - भरे, खेली होली !
जागी रात सेज प्रिय पति - सँग रति सनेह - रँग घोली,
दीपित दीप - प्रकाश, कंज - छवि मंजु - मंजु हँस खोली—
मली मुख-चुम्बन-रोली।

प्रिय-कर-कठिन-उरोज-परस, कस कसक मसक गयी चोली,
एक-वसन रह गयी मन्द हँस, अधर-दशन, अनबोली—
कली-सी काँटे की तोली।

मधु-ऋतु-रात, मधुर अधरों की पी मधु सुध-बुध खो ली,
खुले अलक, मुँद गये पलक-दल; श्रम- सुख की हद हो ली—
बनी रति की छवि भोली।

बीती रात सुखद बातों में प्रात पवन प्रिय डोली,
उठी सँभाल बाल; मुख-लट, पट, दीप बुझा, हँस बोली—
रही यह एक ठठोली।

['जागरण', पाक्षिक, काशी, 22 मार्च, 1932 ('होली' शीर्षक से)। **गीतिका में संकलित**]

रूखी री यह डाल

रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी।
देख खड़ी करती तप अपलक,
हीर-कसी समीर-माला जप,
शैल-सुता अपर्ण-अशना,
पल्लव-वसना बनेगी—
वसन वासन्ती लेगी।

हार गले पहना फूलों का,
ऋतुपति सकल सुकृत-कूलों का
स्नेह सरस भर देगा उर-सर,
स्मरहर को वरेगी।
वसन वासन्ती लेगी।

मधु-व्रत में रत वधू मधुर फल,
देगी जग को स्वाद-तोष-दल,
गरलामृत शिव आशुतोष-बल
विश्व सकल नेगी,
वसन वासन्ती लेगी।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, मार्च, 1932। **गीतिका में संकलित**]

खोलो दृगों के द्वय द्वार

खोलो दृगों के द्वय द्वार,
मृत्यु-जीवन ज्ञान-तम के
करण, कारण - पार।

उधर देखोगे, सुघरतर तुम्हीं दर्शन - सार,
मोह में थे दृप्त, जग परितृप्त बारम्बार।

यवनिका नव खोल देगा नाट्य - सूत्राधार;
लुब्ध करता जो सदा, वह मुग्ध होगा हार।

लखोगे, उर - कुञ्ज में निज कञ्ज पर निर्भार
अखिल-ज्योतिर्गठित छवि, कच पवन-तम-विस्तार।

बहिर - अन्तर एक पर होंगे, खिलेगा प्यार;
ऊर्ध्व - नभ - नग में गमन कर जायगा संसार।

['जागरण', पाक्षिक, काशी, 5 अप्रैल, 1932। **गीतिका** में संकलित]

आओ मेरे आतुर उर पर

आओ मेरे आतुर उर पर,
नव जीवन के आलोक सुघर!

मुक्त-दृष्टि कलि, प्रस्फुट यौवन;
भर रहा हृदय बह मन्द पवन,
आकुल लहरों पर तन-जीवन;
आओ, नव कर, स्वर्ग से उतर!

यह काल क्षणिक यों बह न जाय,
अभिलषित अधूरी रह न जाय,
विरह की वह्नि प्रिय, दह न जाय,
तन्वि के तरुण, आओ सत्वर!

विश्व के सरोवर में नवीन
खुल रही कमल मैं वृन्तहीन,
वासना - मंजु साधनासीन;
आओ मर्म पर, मनोज्ञ भ्रमर!

['जागरण', पाक्षिक, काशी, 20 मई, 1932। गीतिका में संकलित]

तुम छोड़ गये द्वार

तुम छोड़ गये द्वार
तब से यह सूना संसार।

अपने घूंघट में मैं ढककर
देखती रही भीतर रखकर,
पवनाञ्चल में जैसे सुखकर
मुकुल सुरभि - भार।

गये सब पराग, नहीं ज्ञात,
शून्य डाल, रही अन्ध रात,
आयेगा फिर क्या वह प्रात,
भरकर वह प्यार?

गाया जो राग, सब बहा,
केवल मिजराब ही रहा,
खिंचा हुआ हाथ शून्य
यह सितार, तार!

शुष्क कण्ठ, तृष्णा में भरकर
रही आप अपने में मरकर;
गयी किस पवन से हर
स्वर की झङ्कार?

['जागरण', पाक्षिक, काशी, 4 जून, 1932। गीतिका में संकलित]

मेघ के घन केश

मेघ के घन केश,
निरुपमे, नव वेश ! —

चकित चपला के नयन नव,
देखती हो भू - शयन तव,
मन्द - लहरा - पट - पवन, रव
छा रहा सब देश।

उतर बैठी हो शिखर पर
भूल अपनापन विनश्वर;
गा रहे गुण अमर - मर - नर
पा रहे सन्देश।

झर रहा चिर श्रुत मधुर स्वर
निर्झरी के वक्ष को हर,
निर्निमेष खड़ी सुघर अयि,
लख रही निज शेष !

['रँगीला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 4 जून, 1932। गीतिका में संकलित]

रे अपलक मन !

रे अपलक मन !
पर - कृति में धन आपूरण !
दर्पण बन तू मसृण - सुचिक्कण,
रूप - हीन सब रूप - बिम्ब - धन;
जल ज्यों निर्मल, तट - छाया - घन;
किरणों का दर्शन।

सोच न कर, सब मिला, मिल रहा,
भर निज घर, सब खिला, खिल रहा,

तेरे ही दृग रूप - तिल रहा,
खोज न कर मर्षण।

दृष्टि अरूप, रूप लोचन - युग,
बाँध, बाँध कवि, बाँध पलक - भुज,
शून्य सार कर, कर तर भूरुज,
घन का वन - वर्षण।

['रंगीला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 4 जून, 1932। **गीतिका में संकलित**]

चाहते हो किसको सुन्दर ?

चाहते हो किसको सुन्दर ?
तुम्हारी अपनी, कौन अपर ?

प्रात जब ऊषा रो - रो रात
देख पड़ती रक्तोत्पल गात,
भुलाने को किसको नभजात
वहाँ जाते कर - वीणा - कर ?

शयित, उठ, वातायन - मन - लीन
सोचती कोई प्रिया नवीन
तुम्हें जब, मधुर चिन्त्य मन छीन
कहाँ जाते समीर - सत्वर ?

प्रिया विमना, षटपट चुपचाप
चले, सह सके न उर का ताप,
निमीलित नयन चूम, निज छाप
लगा दी कमल - नाल - छबि पर !

सदा ही है सुखानुसन्धान,
सदा ही गीति, गन्ध, रस, गान,
विधानों में अबन्ध, अविधान,
विचरते हो सुर, मायाकर !

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, जून, 1932। **गीतिका में संकलित**]

चहकते नयनों में जो प्राण

चहकते नयनों में जो प्राण,
कौन, किस दुख - जीवन के गान ?

द्रुत, झलमल - झलमल लहरों पर,
वीणा के तारों के - से स्वर,
क्या मन के चलदल पत्रों पर
अविनश्वर आदान ?

जग - जीवन की कौन प्यास यह,
शरत्, शिशिर, ऋतु में विकास यह,
रे चिरकालिक हास, ह्रास यह,
विस्मय-सञ्चय-ज्ञान ?

सिक्त बीज, भर उगा विटप नव,
लिपटी यौवन - लता, पराभव
मान, उभय सुख जीवन-कलरव
मिले ज्योति औ' ज्ञान !

['जागरण', पाक्षिक, काशी, 3 जुलाई, 1932। **गीतिका** में संकलित]

विश्व-नभ-पलकों का आलोक

विश्व - नभ - पलकों का आलोक
अतुल यह आ हर लेता शोक।

न कोई रे स्वर्णालङ्कार,
प्रभा - तन केवल, केवल सार,
ज्योति के कोमल केश अपार,
खड़ी वह सकल देश - दृग रोक।

देखती जहाँ वहाँ सुख, ज्ञान,
देखते हैं जन विज्ञ अजान,
वही जग के प्राणों की प्राण,
मौन में झरते शत-शत श्लोक।

एक रँग में शत रङ्ग, विहार,
तरङ्गों की गङ्गा, अविकार,
उमड़ती जग में बारम्बार,
मिलाती निशि के तम के कोक।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1932। **गीतिका** में संकलित]

रहा तेरा ध्यान

रहा तेरा ध्यान,
जग का गया सब अज्ञान।

गगन घन-विटपी, सुमन नक्षत्र-ग्रह, नव-ज्ञान
बीच में तू हँस रही ज्योत्स्ना-वसन परिधान।

देखने को तुझे बढ़ता विश्व पुलकित-प्राण,
सकल चिन्ता-दुरित-दुख-अभिमान करता दान।

वहाँ प्राणों के निकट परिचय, प्रथम आदान,
प्रथम मधु-संचय, नवल-वयसिके, नव सम्मान।

मौन इङ्गित से तरङ्गित, तरुणि, नव-युग-यान,
अरणियों की अग्नि, तू दिक्-दृगों की पहचान।

['सुकवि', मासिक, कानपुर, अगस्त, 1932। **गीतिका** में संकलित]

खिला सकल जीवन, कल मन

खिला सकल जीवन, कल मन,
पलकों का अपलक-उन्मन।

आयी स्वर्ण-रेख सुन्दर
नयनों में नूतन कर भर;
लहरीले नीले सर पर
कमलों का भुज-भुज कम्पन।

तनिमा ने हर लिया तिमिर,
अङ्गों में लहरी फिर-फिर,
तनु में तनु आरति-सी स्थिर,
प्राणों की पावनता बन।

नयनों में हँस-हँस जाती
कौन, न मर्म समझ पाती,
मौन कौन उर में गाती—
आओ हे प्राणों के धन!

लखती नहीं किसी का पथ
जीवन में वह अप्रतिहत,
नव काया का माया-रथ
रोका, लख सुन्दर कानन।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1932। **गीतिका में संकलित**]

रँग गयी पग-पग धन्य धरा

रँग गयी पग-पग धन्य धरा,—
हुई जग जगमग मनोहरा।

वर्ण-गन्ध धर, मधु-मरन्द भर,
तरु-उर की अरुणिमा तरुणतर
खुली रूप-कलियों में पर भर
स्तर-स्तर सुपरिसरा।

गूँज उठा पिक-पावन-पञ्चम,
खग-कुल-कलरव मृदुल मनोरम,
सुख के भय काँपती प्रणय-क्लम
वन-श्री चारुतरा।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, 1 अप्रैल, 1933 ('चयन' शीर्षक स्तम्भ में)। **गीतिका** में संकलित]

अमरण भर वरण-गान

अमरण भर वरण-गान
वन-वन उपवन-उपवन
जागी छवि, खुले प्राण।

वसन विमल तनु-वल्कल,
पृथु उर सुर-पल्लव-दल,
उज्ज्वल दृग कलि कल, पल
निश्चल, कर रही ध्यान।

मधुप-निकर कलरव भर,
गीति-मुखर पिक प्रिय-स्वर,
स्मर-शर हर केशर झर,
मधु-पूरित गन्ध, ज्ञान।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1933। **गीतिका** में संकलित]

बह जाता रे, परिमल-मन

बह जाता रे, परिमल-मन,
नूतनतर कर भर जीवन।

कर लिये बन्द तूने अपार
उर के सौरभ के सरण-द्वार,
है तभी मरण रे, अन्धकार
घेरता तुझे आ क्षण-क्षण।

देख ले, सकल जल-बन्धन-बल
पार कर खिला वह श्वेतोत्पल,
उतरी प्राणों पर चरण-चपल
स्वर्ग की परी स्वर्ण-किरण।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1933। गीतिका में संकलित]

बैठ देखी वह छबि सब दिन

बैठ देखी वह छबि सब दिन,
अमलिन वन की मालिनी मलिन।

सुमन चुने जाने के ज्यों भय,
भीरु थरथराते तरु-किसलय;
विकसित हो करने को मधु-क्षय
मूदे नयन नलिन।

सदा बाढ़ में बही मन्द सरि—
खोले कूल न कोई जल-हरि;
महाराज ने भी लख लघु अरि
रक्खे पग गिन-गिन।

खो न जाय वह चपल बाल-गति
डरती हुई चली यौवन-प्रति
उर-निकुञ्ज की पुञ्ज-पुञ्ज रति
कोमल मसृण-मसृण।

['सुधा', अर्ध-मासिक, लखनऊ, 1 सितम्बर, 1933। गीतिका में संकलित]

पावन करो नयन !

पावन करो नयन !

रश्मि, नभ - नील - पर,
सतत शत रूप धर,
विश्व - छवि में उतर,
लघु - कर करो चयन !

प्रतनु, शरदिन्दु - वर,
पद्म - जल - बिन्दु पर,
स्वप्न - जागृति सुघर,
दुख - निशि करो शयन !

['सुधा', अर्ध-मासिक, लखनऊ, 1 जनवरी, 1934 । **गीतिका** में संकलित]

रे, कुछ न हुआ, तो क्या ?

रे, कुछ न हुआ, तो क्या ?
जग धोका, तो रो क्या ?

सब छाया से छाया,
नभ नीला दिखलाया,
तू घटा और बढ़ा
और गया और आया;
होता क्या, फिर हो क्या ?
रे, कुछ न हुआ, तो क्या ?

चलता तू, थकता तू,
रुक-रुक फिर बकता तू,
कमजोरी दुनिया हो, तो
कह क्या सकता तू ?

जो धुला, उसे धो क्या ?
रे, कुछ न हुआ तो क्या ?

['सुधा', अर्ध-मासिक, लखनऊ, 1 मार्च, 1934। **गीतिका** में संकलित]

सकल गुणों की खान, प्राण तुम

सकल गुणों की खान, प्राण तुम।
सुख की सृति, दुख की आकुल कृति,
जग तम की धृति, ज्ञान, ध्यान तुम।

वङ्क भौंह, शङ्कित दृग, नत मुख,
मिला रही निज उर अग-जग-दुख;
पी ली ज्वाल, बदल नीली, रुख
विभा, प्रभा की खान, आन तुम।

सोयी घेर गगन का मन, फन,
कुण्डली - नगन - लीन विश्व - जन।
देखी मणि, जागे, परिवर्तन,
गया मोह - अज्ञान, यान तुम।

कमलासन पर बैठ, प्रभा-तन,
वीणा - कर करती स्वर - साधन,
अंगुलि - घात गुंजा मृदु गुञ्जन,
भर देती शत गान, तान तुम।

['सरस्वती', मासिक, प्रयाग, मार्च, 1934। **गीतिका** में संकलित]

अनगिनित आ गये शरण में···

अनगिनित आ गये शरण में जन, जननि,—
सुरभि-सुमनावली खुली, मधुऋतु अवनि !

स्नेह से पङ्क - उर
हुए पङ्कज मधुर,
ऊर्ध्व - दृग गगन में
देखते मुक्ति - मणि !

बीत रे गयी निशि,
देश लख हँसी दिशि,
अखिल के कण्ठ की
उठी आनन्द - ध्वनि !

['सुधा', अर्ध-मासिक, लखनऊ, 1 मई, 1934। **गीतिका में संकलित**]

सरि, धीरे बह री !

सरि, धीरे बह री !
व्याकुल उर, दूर मधुर,
तू निष्ठुर, रह री !

तृण-थरथर कृश तन-मन,
दुष्कर गृह के साधन,
ले घट श्लथ लखती, पथ
पिच्छल, तू गहरी !

भर मत री राग प्रवल
गत हासोज्ज्वल निर्मल—
मुख-कलकल छवि की छल
चपला - चल लहरी !

['चाँद', मासिक, इलाहाबाद, जून, 1934। **गीतिका में संकलित**]

आओ मधुर-सरण मानसि, मन

आओ मधुर-सरण मानसि, मन।
नूपुर-चरण-रणन जीवन नित
वङ्किम चितवन चित-चारु मरण।

नील वसन शतद्रु-तन-ऊर्मिल,
किरणचुम्बि-मुख अम्बुज रे खिल,
अन्तस्तल मधु-गन्ध अनामिल,
उर-उर तव नव राग जागरण।

पलक-पात उत्थित-जग-कारण,
स्मितिआशा-चल-जीवन-धारण,
शब्द अर्थ-भ्रम - भेद-निवारण,
ध्वनि शाश्वत-समुद्र-जग-मज्जन।

['सुधा', अर्ध-मासिक, लखनऊ, 16 जुलाई, 1934। **गीतिका में संकलित**]

तुम्हारे सुन्दरि, कर सुन्दर

तुम्हारे सुन्दरि, कर सुन्दर
मिलाये हुए वर अमर-मर।

अनावृत सुकृत-स्नेह के प्राण,
अमृत ही अमृत, ज्ञान ही ज्ञान,
मृत्यु को अपने ही कर म्लान
कर दिया तुमने प्रिया सुघर।

छिन्न कर जुड़े हुए सब पाश
प्रणय का खोल दिया आकाश,
मृत्यु में पैठ भङ्ग-भ्रू-लास-
रङ्ग दिखलाती हो सस्वर।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, 1 अगस्त, 1934। **गीतिका में संकलित**]

शरत् के प्रति

नभ से आ आभा-सी शुभे, शुभ्र रक्खे पद
धौत धवल विश्व-कमल पर, कर में आस्वद-शद;
किन्तु बहा कल जो जल उद्धत हर शत-शत तन,
बता सकोगी क्या तुम— उसका भी क्या विवरण ?
शारद-शत-जीवन की शरण न दो – वरण करो;
अन्ध-विश्व-जन्म-बन्ध मरण हरो—मरण हरो !

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1934। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

प्राण-धन को स्मरण करते

प्राण-धन को स्मरण करते
नयन झरते—नयन झरते !

स्नेह ओत-प्रोत;
सिन्धु दूर, शशिप्रभा-दृग
अश्रु ज्योत्स्ना-स्रोत।
मेघमाला सजल-नयना
सुहृद उपवन को उतरते।

दुःख - योग, धरा
विकल होती जब दिवस-वश
हीन तापकरा,
गगन नयनों के शिशिर झर
प्रेयसी के अधर भरते।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, मार्च, 1935। **गीतिका** में संकलित]

गयी निशा वह, हँसीं दिशाएँ

गयी निशा वह, हँसीं दिशाएँ,
खुले सरोरुह, जगे अचेतन,
बही समीरण जुड़ा नयन-मन,
उड़ा तुम्हारा प्रकाश केतन।

तमिस्र - संक्षर छिपे निशाचर
प्रभा - भयंकर विनाश से डर,
विनिद्र-खग-स्वर-मुखर दिगम्बर
बँधा दिवा के विकास के तन।

अलक्ष्य को लक्ष्य कर, सुखाधर
रहे कमल-दृग अभेद-जल तर,
निरुद्ध निज धर्म - कर्म कर कर,
विशुद्ध - आभास, सिद्धि के धन।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, जून, 1935 ('सुप्रभात' शीर्षक से)। **गीतिका में** संकलित]

मार दी तुझे पिचकारी

मार दी तुझे पिचकारी,
कौन री, रँगी छबि वारी?

फूल-सी देह,—द्युति सारी,
हल्की तूल - सी सँवारी,
रेणुओं - मली सुकुमारी,
कौन री, रँगी छबि वारी?

मुसका दी, आभा ला दी,
उर - उर में गूँज उठा दी,
फिर रही लाज की मारी,
मौन री रँगी छबि प्यारी।

['वीणा', मासिक, इन्दौर, जून, 1935 ('होली' शीर्षक से)। **गीतिका में** संकलित]

दे, मैं करूँ वरण

दे, मैं करूँ वरण
जननि, दुखहरण पद-राग-रञ्जित मरण।

भीरुता के बँधे पाश सब छिन्न हों,
मार्ग के रोध विश्वास से भिन्न हों,
आज्ञा, जननि, दिवस-निशि करूँ अनुसरण।

लांछना इन्धन, हृदय-तल जले अनल,
भक्ति-नत-नयन मैं चलूँ अविरत सबल
पारकर जीवन-प्रलोभन समुपकरण।

प्राण-संघात के सिन्धु के तीर मैं
गिनता रहूँगा न कितने तरङ्ग हैं,
धीर मैं ज्यों समीरण करूँगा तरण।

['वीणा', मासिक, इन्दौर, जून, 1935। गीतिका में संकलित]

सार्थक करो प्राण

सार्थक करो प्राण।
जननि, दुख-अवनि को
दुरित से दो त्राण!

स्पर्द्धान्ध जन, गात्र
जर्जर अहोरात्र,
शेष-जीवन-मात्र,
कुड्मल गताघ्राण।

चेतनाहीन मन
मानता स्वार्थ धन,
दष्ट ज्यों हो सुमन,
छिद्र-शत तनु-यान!

आयी परम्परा--
'जीत लूँगा धरा';
धृत-विश्व-वर-करा
अजया, गया ज्ञान।

['चाँद', मासिक, इलाहाबाद, अक्तूबर, 1935। **गीतिका** में संकलित]

निशि-दिन तन

निशि-दिन तन धूलि में मलिन;
क्षीण हुआ छन-छन मन छिन-छिन।

ज्योति में न लगती रे रेणु;
श्रुति-कटु स्वर नहीं वहाँ,
वह अछिद्र वेणु;
चाहता, बनूँ उस पग-पायल की रिन-रिन।

व्यर्थ हुआ जीवन यह भार;
देखा संसार, वस्तु
वस्तुत: असार;
भ्रम में जो दिया, ज्ञान में लो तुम गिन-गिन।

['सरस्वती', मासिक, प्रयाग, नवम्बर, 1935। **गीतिका** में संकलित]

घन, गर्जन से भर दो वन

घन, गर्जन से भर दो वन
तरु-तरु पादप-पादप-तन।

अब तक गुञ्जन-गुञ्जन पर
नाचीं कलियाँ, छबि निर्भर;
भौंरों ने मधु पी-पीकर
माना, स्थिर-मधु-ऋतु कानन।

गरजो हे मन्द्र, वज्र - स्वर;
थर्राये भूधर-भूधर,
झरझर झरझर धारा झर
पल्लव - पल्लव पर जीवन।

['सरस्वती', मासिक, प्रयाग, नवम्बर, 1935। गीतिका में संकलित]

बुझे तृष्णाशा-विषानल झरे

बुझे तृष्णाशा - विषानल झरे भाषा अमृत - निर्झर,
उमड़ प्राणों से गहनतर छा गगन लें अवनि के स्वर।

ओस के धोये अनामिल पुष्प ज्यों खिल किरण-चूमे,
गन्ध-मुख मकरन्द - उर सानन्द पुर - पुर लोग घूमें,
मिटे कर्षण से धरा के पतन जो होता भयङ्कर,
उमड़ प्राणों से निरन्तर छा गगन लें अवनि के स्वर।

बढ़े वह परिचय बिंधा जो क्षुद्र भावों से हमारा,
क्षिति-सलिल से उठ अनिल बन देख लें हम गगन-कारा,
दूर हो तम - भेद यह जो वेद बनकर वर्ण-सङ्कर,
पार प्राणों के करें उठ गगन को भी अवनि के स्वर।

['सरस्वती', मासिक, प्रयाग, जनवरी, 1936। गीतिका में संकलित]

अस्ताचल रवि

अस्ताचल रवि, जल छलछल-छवि,
स्तब्ध विश्वकवि, जीवन उन्मन;
मन्द पवन बहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन।

दूर नदी पर नौका सुन्दर
दीखी मृदुतर बहती ज्यों स्वर,
वहाँ स्नेह की प्रतनु देह की
बिना गेह की बैठी नूतन।

ऊपर शोभित मेघ छत्र सित,
नीचे अमित नील जल दोलित;
ध्यान-नयन-मन चिन्त्य प्राण-धन;
किया शेष रवि ने कर अर्पण।

['सरस्वती', मासिक, प्रयाग, फरवरी, 1936। **गीतिका** में संकलित]

भारति, जय, विजयकरे !

भारति, जय, विजयकरे !
कनक - शस्य - कमलधरे !

लंका पदतल शतदल
गर्जितोर्मि सागर-जल,
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे।

तरु - तृण - वन - लता वसन,
अञ्चल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल - कण
धवल - धार हार गले।

मुकुट शुभ्र हिम-तुषार,
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख - शतरव - मुखरे !

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, फरवरी 1936। **गीतिका** में संकलित]

बन्दूं पद सुन्दर तव

बन्दूं पद सुन्दर तव;
छन्द नवल स्वर-गौरव।

जननि, जनक-जननि-जननि;
जन्मभूमि-भाषे !
जागो, नव अम्बर-भर,
ज्योतिस्तर-वासे !
उठे स्वरोर्मियों-मुखर
दिक्कुमारिका - पिक - रव।

दृग - दृग को रंचित कर
अंजन भर दो भर।—
विंधें प्राण पंचबाण
के भी, परिचय-शर।
दृग - दृग की बँधी सुछबि
बाँधे सचराचर भव !

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, मार्च, 1936। गीतिका में संकलित]

घोर शिशिर

घोर शिशिर, डूबा जग अस्थिर,
तिमिर-तिमिर हो गये दिशा-पल।
प्रति तरङ्ग पर सिहर अङ्ग भर
व्याकुल तरुणी तरणी चंचल।

तरु गत-किसलय—जीवित-मिस लय,
विसमय विषमय सलिल अनिल चल,
निराधार भव भार, न कलरव,
लग तुषार - दव क्षार हुआ स्थल।

सौध-शिखर पर प्रात मनोहर
कनक-गात तुम अरुण चरण धर
सरणि-सरणि पर उतर रही भर
छन्द-भ्रमर - गुंजित नीलोत्पल।

चली स्नान - हित शोभावलयित,
गीत-सदृश चित प्रिय छबि-निर्मित,
क्षालित शत - तरंग - तनु - पालित
अवगाहित निकली द्युति निर्मल।

['सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अप्रैल, 1936। **गीतिका में संकलित**]

नयनों का नयनों से बन्धन

नयनों का नयनों से बन्धन,
काँपे थर-थर थर-थर युग तन।

समझे-से हिले विटप हँसकर,
चढ़े मंजु खिले सुमन खसकर,
गयी विवश वायु बाँध वश कर,
निर्भर लहराया सर—जीवन।

ज्ञात रश्मि गात चूम रे गयी,
बँधी हुई खुली भावना नयी,
गयी दूर दृष्टि जो सुखाशयी,
छिपे वे रहस्य दिखे नूतन।

समझे युग रागानुग मुक्ति रे—
ज्ञान परम, मिले चरम युक्ति से;
सुन्दरता के, अनुपम उक्ति के
बँधे हुए श्लोक पूर्ण कर चरण।

['चाँद', मासिक, इलाहाबाद, अप्रैल, 1936। **गीतिका में संकलित**]

हुआ प्रात, प्रियतम

हुआ प्रात, प्रियतम, तुम जावगे चले ?
कैसी थी रात, बन्धु, थे गले-गले !

फूटा आलोक,
परिचय-परिचय पर जग गया भेद, शोक !
छलते सब चले एक अन्य के छले ! —
जावगे चले ?

बाँधो यह ज्ञान,
पार करो, बन्धु, विश्व का यह व्यवधान !
तिमिर में मुदे जग, आओ भले-भले !

['हंस', मासिक, बनारस सिटी, जुलाई, 1936। **गीतिका में संकलित**]

कैसी बजी बीन ?

कैसी बजी बीन ?—
सजी मैं दिन-दीन ?

हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी;
हुई ज्योत्स्नामयी अखिल माया पुरी;
लीन स्वर-सलिल में मैं बन रही मीन।

स्पष्ट ध्वनि—आ, धनि सजी यामिनी भली,
मन्द-पद आ बन्द, कुंज उर की गली;
मंजु, मधु-गुंजरित कलि-दल-समासीन !

'देख, आरक्त पाटल - पटल खुल गये,
माधवी के नये खुले गुच्छे नये,
मलिन - मन, दिवस - निशि, तू क्यों
रही क्षीण ?'

['चाँद', मासिक, इलाहाबाद, सितम्बर, 1936। **गीतिका में संकलित**]

वह कितना सुख

वह कितना सुख जब मैं - केवल
जीवन - जीवन से बँधा सुफल !

यदि बनूँ किसी चित्र का साज
उसकी रक्षा के लिए, आज
अक्षर, क्षर होता हुआ, ब्याज,
मैं न बन सकूँगा यज्ञ - शकल —
जीवन-जीवन से मिला सुफल !

देखेगा मुझे न कोई फिर,
रे, वे छबि के दर्शक अस्थिर;
मैं साज रहूँगा, अन्त स्थविर,
भर जाऊँगा, फिर निःसम्बल—
जीवन-जीवन से भिन्न, विफल !

मैं प्रवहमान यदि बनूँ सलिल,
प्राण-प्राण के रँग मिलें अमिल,
छबि-छबि अंकित हो खुलें, अखिल
जीवन का रस मैं बनूँ विमल—
जीवन - जीवन में मिला सुफल !

['भारत', दैनिक, इलाहाबाद, 15 अक्तूबर, 1936 । **गीतिका** में संकलित]

खुलती मेरी शेफाली

खुलती मेरी शेफाली :
हँसती री, डाली डाली !

किसकी यह शोभा छीनी
जो वृन्तों पर रंगीनी ?
हलके दल; भीनी - भीनी
आयी सुगन्ध मतवाली !

मूदीं जब जग ने आँखें
खोलीं री इसने पाँखें;
उड़ने को नभ को ताकें
उपवन की परियाँ, आली !

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, अक्तूबर, 1936। **गीतिका** में संकलित]

मैं रहूँगा न

मैं रहूँगा न गृह के भीतर
जीवन में रे मृत्यु के विवर।

यह गुहा, गर्त्त प्राचीन, रुद्ध
नव दिक्-प्रसार, वह किरण शुद्ध
है कहाँ यहाँ मधु-गन्ध-लुब्ध
वह वायु विमल आलिङ्गनकर ?

करता रह-रह वह विकल प्राण
उठता जग जो बहुजन्म गान
जीवन का, खो-खो दिशा-ज्ञान
जाने बह जाता कहाँ मुखर !

दूर-दूर रे चेतन-सागर
टलमल शत-रश्मि तरंग-सुघर
पृथ्वी का लहराता सुन्दर
दुकूल सस्वर आकर्षण भर !

['सरस्वती', मासिक, प्रयाग, नवम्बर, 1936। **गीतिका** में संकलित]

लाज लगे तो

लाज लगे तो
जाओ, तुम जाओ !

फेर लो नयन,
चलो मंजु-गुंजर, धर
नूपुर - शिञ्जित - चरण,
करूँ वरण, प्राणों में आ
छबि पाओ—
लाज लगे तो।

मेरा जीवन
छाया, छाया - प्रशमन
मेरा जीवन, मरण;
आवरण सदा, न लोक-
नयन, सुहाओ—
लाज लगे तो।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1937। **गीतिका में संकलित**]

(प्रिय) यामिनी जागी

(प्रिय) यामिनी जागी।
अलस पंकज-दृग अरुण-मुख-
तरुण-अनुरागी।

खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे;
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तड़ित-
द्युति ने क्षमा माँगी।

हेर उर-पट फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक चली मन्द मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जय-माल,
वासना की मुक्ति, मुक्ता
त्याग में तागी।

[गीतिका में संकलित]

सखि, वसन्त आया

सखि, वसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।

किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप - वृन्द बन्दी—
पिक-स्वर नभ सरसाया।

लता-मुकुल-हार-गन्ध-भार भर
बही पवन बन्द मन्द मन्दतर,
जागी नयनों में वन-
यौवन की माया।

आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण - शस्य - अंचल
पृथ्वी का लहराया।

[गीतिका में संकलित]

मौन रही हार

मौन रही हार,
प्रिय-पथ पथ पर चलती,
सब कहते श्रृंगार !

कण - कण कर कङ्कण, प्रिय
किण - किण रव किङ्किणी,
रणन-रणन नूपुर, उर लाज,
लौट रङ्किणी;

और मुखर पायल स्वर करें बार-बार,
प्रिय - पथ पर चलती, सब कहते श्रृंगार !

'शब्द सुना हो, तो अब
लौट कहाँ जाऊँ ?
उन चरणों को छोड़, और
शरण कहाँ पाऊँ ?'—

बजे सजे उर के इस सुर के सब तार—
प्रिय - पथ पर चलती, सब कहते श्रृंगार !

[गीतिका में संकलित]

कौन तम के पार ?

कौन तम के पार ?—(रे, कह)
अखिल-पल के स्रोत, जल-जग,
गगन घन-घन-धार—(रे, कह)

गन्ध - व्याकुल - कूल - उर-सर,
लहर-कच कर कमल-मुख-पर,
हर्ष-अलि हर स्पर्श - शर, सर,
गूंज बारम्बार ! —(रे, कह)

उदय में तम - भेद सुनयन,
अस्त-दल ढक पलक-कल तन,
निशा-प्रिय-उर-शयन सुख-धन
सार या कि असार ?—(रे, कह)

बरसता आतप यथा जल
कलुष से कृत सुहृत कोमल,
अशिव उपलाकार मंगल,
द्रवित जल नीहार !—(रे, कह)

[गीतिका में संकलित]

बादल में आये जीवन-धन

बादल में आये जीवन - धन।
अपल-नयन सुवास-यौवन नव
देख रही तरुणी कोमल-तन।

मरुत्-पुलक भर अंग प्रकम्पित,
बार - बार देखती चपल - चित
स्पर्श - चकित कर्षित हो हर्षित,
लक्ष्य पार करती चल-चितवन।

नव-अपांग-शर-हत व्याकुल - उर
आतुर वारिद वारि - धार स्फुर,
उगा रहा उर में प्रेमांकुर,
मधुर-मधुर कर-कर प्रशमित मन।

बरस गयी जल-धार विश्व-सृज,
शैवलिनी पा गयी उदधि निज,
मुक्त हुए आ स्नेह के क्षितिज,
रूप - स्पर्श - रस - गन्ध-शब्द धन।

[गीतिका में संकलित]

जागो, जीवन-धनिके !

जागो, जीवन - धनिके !
विश्व - पण्य - प्रिय वणिके !

दुःख - भार भारत तम - केवल,
वीर्य - सूर्य के ढके सकल दल,
खोलो उषा - पटल निज कर अयि,
छविमयि, दिन - मणिके !

गह कर अकल तूलि, रँग-रँगकर
बहु जीवनोपाय, भर दो घर,
भारति, भारत को फिर दो वर
ज्ञान - विपणि - खनि के।

दिवस-मास-ऋतु-अयन-वर्ष भर
अयुत - वर्ण युग - योग निरन्तर
बहते छोड़ शेष सब तुम पर
लव - निमेष - कणिके !

[गीतिका में संकलित]

लिखती, सब कहते

लिखती, सब कहते,
तुम सहते, प्रिय, सहते।

होते यदि तुम नहीं,
लिखती मैं क्या कहो ?
पत्रों में तुम हो सर्वत्र,
रहोगे, रहो।
(वे) कहें, रहें कहते,
तुम सहते, प्रिय, सहते।

मैं लिखती या बहती
स्रोत पर तुम्हारे ही रहती,
इसी तरह उर पर रख, मधुर,
कहो, तुम कहो।
(जब) चाह, तुम्हें चहते,
तब कहते, सब कहते।

[**गीतिका** में संकलित]

एक ही आशा में

एक ही आशा में, सब प्राण
बाँध माँ, तन्त्री के-से गान।

तोल तू उच्च-नीच समतोल
एक तरु के-से सुमन अमोल,
सकल लहरों में एक उठान
उठा माँ, तन्त्री के-से गान।

सकल कर्मों में एक उदार
भावना का कर दे सञ्चार,
एक सब नयनों में पहचान
खोल माँ, तन्त्री के-से गान।

सकल मार्गों से चलकर एक
लक्ष्य पर पहुँचे लोग अनेक,
सकल-शुभ-फलप्रद एक विधान
बाँध माँ, तन्त्री के-से गान।

[**गीतिका में संकलित**]

धन्य कर दे माँ

धन्य कर दे माँ, वन्य प्रसून;
दिखा जग ज्योतिर्मय, मुख चूम।

दलों के दृग कलिका के बन्द,
भर गयी पर उर में मृदु गन्ध,
कृपामयि, मलय बहा दे मन्द,
वन्दना करे छन्द में झूम।

तारकोज्ज्वल हीरक - हिम - हार
गगन से पहना दे कर प्यार,
सजा दे, प्रिय - पथ पर प्रतिवार
लजाती रहे स्नेह - दल तूम।

[गीतिका में संकलित]

जला दे जीर्ण-शीर्ण प्राचीन

जला दे जीर्ण - शीर्ण प्राचीन;
क्या करूँगा तन जीवन - हीन?

माँ, तू भारत की पृथ्वी पर
उतर रूपमय माया तन धर,
देवव्रत नरवर पैदा कर,
फैला शक्ति नवीन—

फिर उनके मानस - शतदल पर
अपने चारु चरणयुग रख कर,
खिला जगत तू अपनी छवि में
दिव्य ज्योति हो लीन!

[गीतिका में संकलित]

अपने सुख-स्वप्न से खिली

अपने सुख - स्वप्न से खिली
वृन्त की कली।

उसके मृदु उर से
प्रिय अपने मधुपुर के
देख पड़े तारों के सुर से;
विकच स्वप्न - नयनों से मिली, फिर मिली,
वह वृन्त की कली।

भरे सुदल दिन सब,
है परिमल का कलरव,
निस्पन्द पलक - पत्रों पर उत्सव
जब बैठी प्रियतम की तितली—तितली,
वह खिली, फिर खिली।

भरा पवन में यौवन,
आया बह वन का मन,
मिला हृदय-निःस्वन अलि-गुञ्जन,
खुल गयी अपने के सपने से निकली
वह वृन्त की कली।

[गीतिका में संकलित]

कब से मैं पथ देख रही

कब से मैं पथ देख रही, प्रिय;
उर न तुम्हारे रेख रही, प्रिय!

तोड़ दिये जब सब अवगुण्ठन,
रहा एक केवल सुख - लुण्ठन,
तब क्यों इतना विस्मय - कुण्ठन?
असमय समय न करो, खड़ी, प्रिय!

प्रथम पलक खुलते ही देखा
चरण - चिह्न, नूतन पथ - रेखा,
उड़ी जलद - जीवन की केका,
क्या अब निष्फल सफल सही, प्रिय ?

एक निमिष के लिए देख तन,
जीवन - धन कर चुकी समर्पण,
स्तब्ध चरण मैं आज निःशरण,
'हाँ' में रही विराज 'नहीं', प्रिय !

[गीतिका में संकलित]

देख दिव्य छवि लोचन हारे

देख दिव्य छवि लोचन हारे,
रूप अतन्द्र, चन्द्र मुख, श्रम रुचि,
पलक तरल तम, मृग-दृग-तारे।

द्वेष - दम्भ - दुख पर जय पाकर
खिले सकल नव अङ्ग मनोहर,
चितवन संसृति की सरिता तर
खड़ी स्नेह के सिन्धु - किनारे।

जग के रङ्गमञ्च की सङ्गिनि,
अयि परिहास - हास - रस-रङ्गिनि,
उर - मरु - पथ की तरल तरङ्गिनि,
दो अपने प्रिय स्नेह - सहारे।

[गीतिका में संकलित]

प्रतिक्षण मेरा मोह-मलिन मन

प्रतिक्षण मेरा मोह - मलिन मन
उल्लसित चमत्कृत कर भरती हो
अजस्र रस - रूप - धन किरण।

देख तुम्हें जीवन की विद्युत्
बढ़ती शत - तरङ्ग - कम्पित द्रुत,
चुम्बित - मधुर - ज्योति-नयन-च्युत
खुल जाता कमल सित घन-वरण।

निशि - तम - डाल - मौन मेरा खग
उड़ जाता अनन्त नभ के नग,
रँग देता प्रसुप्त जग के रँग
गीत जागरण मंजुल अमरण।

[**गीतिका** में संकलित]

तुम्हीं गाती हो

तुम्हीं गाती हो अपना गान;
व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान।

मेरा पतझड़ - हरा हृदय हर
पत्रों के मर्मर के सुखकर
तुम्हीं सुनाती हो नूतन स्वर
भर देती हो प्राण।

मेरा दुख अरण्य, किसलय - दल
ज्वाल, जली काली तुम कोयल,
दैन्य - डाल पर बैठी प्रतिपल
सुना रही हो तान।

भ्रम गोधूलि, धूसरित नभ - तन,
तुम शशि, कला-किरण-दृग-चुम्बन;
ज्ञान-तन्तु तुम, जग-अजान-मन-
शव-शिव-शक्ति महान ।

[गीतिका में संकलित]

जीवन की तरी खोल दे रे

जीवन की तरी खोल दे रे
जग की उत्ताल तरङ्गों पर;
दे चढ़ा पाल कलधौत - धवल,
रे सबल, उठा तट से लङ्गर।

क्यों अकर्मण्य सोचता बैठ,
गिनता समर्थ हो व्यर्थ लहर;
आये कितने, ले गये अर्थ,
बढ़ विषम बाड़वानल - जल तर।

बहती अनुकूल पवन, निश्चय
जय जीवन की है जीवन पर;
निरभ्र नभ, ऊषा के मुख पर
स्मिति किरणों की फूटी सुन्दर।

अपने ही जल से जो व्याकुल,
ले शक्ति, शान्ति, तर वह सागर;
तू तूर्ण और हो पूर्ण सफल,
नव - नवोर्मियों के पार उतर।

[गीतिका में संकलित]

वे गये असह् दुख भर

वे गये असह दुख भर
वारिद झरझर झरकर !

नदि - कलकल छल, छल - सी,
वह छवि दिगन्त - पल की
घन - गहन - गहन
बन्धु - दहन
असहन निस्तल की
कहती, 'प्रिय - पथ दुस्तर :—
वे गये असह दुख भर !'

जीवन के मङ्गल के
रवि अस्ताचल ढलके;
निशि, तिमिर- ग्रस्त,
वसन - स्रस्त,
अस्त नयन छलके
तरुणी के, अम्बर पर।
वे गये असह दुख भर !

[गीतिका में संकलित]

कितने बार पुकारा

कितने बार पुकारा,
खोल दो द्वार, बेचारा।

मैं बहुत दूर का, थका हुआ,
चल दुखकर श्रम-पथ, रुका हुआ,
आश्रय दो आश्रम - वासिनि,
मेरी हो तुम्हीं सहारा।

वह खुला न द्वार, दिवस बीता,
हो गयी निरर्थ सकल गीता,
मैं सोया पथ पर खिन्नमना
मुद गयी दृष्टि ज्योतिःकारा।

फिर जाग कहीं भी मैं न गया,
आती थी आप दया सदया,
पर लेता कौन, प्रकाश नया
जीता, जङ्गम यह जग हारा।

[गीतिका में संकलित]

(छिपा मन) बन्द करो उर-द्वार

(छिपा मन) बन्द करो उर-द्वार,
(फिर) सौरभ कर दो सञ्चार!

वह रँग-दल बदल-बदलकर,
नव-नव परिमल मल-मलकर,
जग-भौंर भुला भूलों से
पहनो फूलों का हार!

तुम नव समीर में गलकर
भर दो चुम्बन चल-चलकर,
अग-जग तत्त्वों में बिहरे—
मन सिहरे बारम्बार!

तुम कली-कली पग रखकर
प्रिय, चढ़ो गगन सुख-दुख हर
नश्वर सीमा-संसृति में
मेरी सस्वर झङ्कार!

[गीतिका में संकलित]

तुम्हें ही चाहा

तुम्हें ही चाहा सौ-सौ बार,
कण्ठ की तुम्हीं रही स्वर - हार।

तुम्हीं अपने गौरव की बान,
बनी वन की शोभा सुख-खान,
सुमन - शत - रङ्ग, सुवासाह्वान,
भ्रमर -उर की मधु-पुर की प्यार।

विश्व - पादप - छाया में म्लान—
मना बैठा; व्याकुल थे प्राण;
तिमिर तर, प्रभा दृगों में ज्ञान
उतर आयी, तुम ले उपहार।

लजा लहरों की गति, मृदु-भङ्ग
मिली उर से फिर लता-लवङ्ग;
केलि - कलिकाओं में निस्सङ्ग
खुल गये गीतों के आकार।

[गीतिका में संकलित]

चाल ऐसी मत चलो !

चाल ऐसी मत चलो !
सृष्टि से ही गिर रहा जो
दृष्टि से फिर मत छलो !

कह रहा हूं जो कथा,
बज रही उसकी व्यथा ?
या चरण चलते रहेंगे
निश्शरण पर सर्वथा ?
सुख मिला जिसको जिलाया
दुःख दे मत दलमलो !

बनो वासन्ती मृदुल
पत्रिका तरु की अतुल,
फिर सुरस-सञ्चारिका
सुखसारिका उसकी मुकुल,
फिर मधुर मधुदान से नव
प्राण दे - देकर फलो।

[गीतिका में संकलित]

बहती निराधार

बहती निराधार
पृथ्वी गगन में, अतनु में सुतनु-हार।

शब्द स्वर के भरे
रागिनी के हरे
छाये दिशा - ज्ञान
विचरे अनिल - भार।

नाचतीं ऋतु, चपल
पुष्प - लोचन नवल,
भाव के वर्ण - दल,
सिक्त - हिम - जल - धार।

बहे रस - स्रोत खर
बेध तनु विविध शर,
पार कर गये रे
जग का अपर पार।

[गीतिका में संकलित]

फूटो फिर

फूटो फिर, फिर से तुम,
रुद्ध - कण्ठ साम - गान !
दूर हो दुरित, जो जग
जागा तृष्णार्त ज्ञान !

करुण, कवल में दुष्कर
भरे प्राण रे पुष्कर,
सरस - ज्ञान अनवरोध
करता नर-रुधिर-पान !

देश, देश के प्रति, तन,
हरता धन, जन, जीवन;
व्याध, बेध शर से, दे
रहा रे अशेष ज्ञान !

जागो, हे त्याग तरुण !
प्राची के, उगो, अरुण !
दृग-दृग से मिलो, खिलो
पुष्प - पुष्प वन्य प्राण !

[गीतिका में संकलित]

टूटें सकल बन्ध

टूटें सकल बन्ध
कलि के, दिशा-ज्ञान-गत हो बहे गन्ध ।

रुद्ध जो धार रे
शिखर - निर्झर झरे,
मधुर कलरव भरे
शून्य शत - शत रन्ध्र ।

रश्मि ऋजु खींच दे
चित्र शत रङ्ग के,
वर्ण - जीवन फले,
जागे तिमिर अन्ध।

[गीतिका में संकलित]

भावना रँग दी तुमने

भावना रँग दी तुमने, प्राण,
छन्द-बन्दों में निज आह्वान।

दिशाओं के सहस्र-दश दल
खुल गये नये - नये कोमल,
मध्य तुम बैठी चिर-अचपल
बह रहा प्रतिपल सौरभ-ज्ञान।

ओस आँसुओं-धुली नव गात,
स्पष्ट नयनों में नूतन प्रात,
भर रहा वात चपल तव बात,
कर रहा पलक-पात कर-दान।

बैठ जीवन-उपवन में मन्द-
मन्द सिखलाती नव-नव छन्द,
चतुर्दिक प्रभा, प्रभा, आनन्द
हर रहा जड़-निशि-कृश अज्ञान।

[गीतिका में संकलित]

तपा जब यौवन का दिनकर

तपा जब यौवन का दिनकर,
बाँह प्रिय की सुछाँह सुखकर।

दूर, अति दूर गगन-विस्तार,
निकट, अति निकट हृदय में द्वार;
समायी उर-सर, मधुर विहार
कर बनी चिन्तामणि भास्वर।

लाज-तन में नत-मन, अधिकार
सकल अपना ही, कल संसार;
पहन प्रिय के प्राणों की हार
बनी पलकों की स्वप्न सुघर।

पी प्रचुर रचनामृत शुचि सोम,
सुरति की मूर्ति, प्राण मख होम;
लख लिया निज केशों में व्योम—
तीसरा नयन प्रकाश अमर।

[गीतिका में संकलित]

डूबा रवि अस्ताचल

डूबा रवि अस्ताचल,
सन्ध्या के दृग छल-छल।

स्तब्ध अन्धकार सघन
मन्द गन्ध-भार पवन;
ध्यान लग्न नैश गगन,
मूदे पल नीलोत्पल।

भीतर उर में निहार,
तारक - शत - लोक - हार
छबि में डूबा अपार
अखिल कारुणिक मङ्गल।

यही नील - ज्योति - वसन
पहन नीलनयनहसन,
आओ छबि, मृत्यु - दशन
करो दंश जीवन - फल।

[गीतिका में संकलित]

विश्व की ही वाणी प्राचीन

विश्व की ही वाणी प्राचीन
आज रानी बन गयी नवीन।

वही पतझर की किंशुक-डाल
पहन लहराती अंशुक-जाल,
चहकते खगकुल सकल सकाल,
विचरते पद-तल हिंसक दीन।

गये जग वन-जीवन के छन्द
लिखे पुष्पाक्षर सकल अमन्द;
प्रकृति बैठी पालने, अतन्द्र
जगत के पलकों पर आसीन।

ओस की मुक्ताओं की माँग,
रश्मियों - रँगी, रेणु - अनुराग;
खुला जीवन में प्रणय - सुहाग,
कलाप्रिय - अकल-ध्यान में लीन।

[गीतिका में संकलित]

शत शत वर्षों का मग

शत शत वर्षों का मग
हुआ पार देश का, न
हुए प्राण सार्थक जग।

बढ़ा भेद सुख - छेदन—
तम रे जागर - भेदन;
आये वे निर्वेदन
दिशि - दिशि से निशि के ठग।

उठा आज कोलाहल,
गया लुट सकल सम्बल,
शक्तिहीन तन निश्चल,
रहित रक्त से रग - रग।

मिला ज्ञान से जो धन,
नहीं हुआ निश्चेतन,
बाँधो उससे जीवन,
साधो पग - पग यह डग।

[गीतिका में संकलित]

विश्व के वारिद-जीवन में

विश्व के वारिद-जीवन में,
उषा बन गयी रे गगन में।

उसी का नील-शयन यौवन
लखा जग ने नव-स्वप्नाकुल,
कलित रवि के मुख का जीवन
बह चला खग-कुल-कण्ठ मृदुल,
करों के सुख-आलिङ्गन में
विश्व ने देखा प्रतिकण में।

गया सुख, अब वियोग की छाँह
रो रही शून्य भर सुघर-बाँह;
दृगों से उठ अनन्त की ओर
ताप की शिशिर खोजती छोर;
पवन के पतझड़-निस्वन में
सुना उत्तर उसने वन में।

[गीतिका में संकलित]

छन्द की बाढ़

छन्द की बाढ़, वृष्टि अनुराग,
भर गये रे भावों के झाग।

तान, सरिता वह त्रस्त, अरोर,
बह रही ज्ञानोदधि की ओर,
कटी रूढ़ि के प्राण की डोर,
देखता हूँ अहरह मैं जाग।

डालियों की समीर स्वच्छन्द,
मन्द भरती अजात आनन्द,
भर रहा मधुकर कुञ्जन, स्पन्द :
पल्लवित, कुसुमित, सुरभित बाग !

नाचता पलकों पर आलोक
किसी का, हरकर उर का शोक,
देखता मैं अरोक मन रोक,
उमड़ पड़ते हैं सौ-सौ राग !

आ गया वन-जीवन-मधुमास,
हुआ मन का निर्मल आकाश,
रच गया नव किरणों का रास,
खेलते फूल ज्योति का फाग।

[गीतिका में संकलित]

जागा दिशा-ज्ञान

जागा दिशा-ज्ञान;
उगा रवि पूर्व का गगन में, नव-यान !

खुले, जो पलक तम में हुए थे अचल,
चेतनाहत हुई दृष्टि दीखी चपल,
स्नेह से फुल्ल आयी उमड़ मुसकान।

किरण-दृक्-पात, आरक्त किसलय सकल;
शक्त द्रुम, कमल-कलि पवन-जल-स्पर्श-चल;
भाव में शत सतत बह चले पथ प्राण।

हारे हुए सकल दैन्य दलमल चले,—
जीते हुए लगे जीते हुए गले,
बन्द वह विश्व में गूँजा विजय-गान।

[गीतिका में संकलित]

खुल गया रे

खुल गया रे अब अपनापन,
रँग गया जो वह कौन सुमन ?

सोचता उन नयनों का प्यार,
अचानक भरा सकल भाण्डार,
आज और ही और संसार,
और ही सुकृत मंजु पावन !

सहस्रों के सुख, दुख अनुराग
पिरोये हुए एक ही ताग,
कौन यह मधुर मौन मख, याग,
खुला जो, रहा एक जीवन ?

उसी से रे सज गया सुभार
स्नेह का उर, उर के सुर-तार,
खुले जिसके कर-कनक-प्रसार
स्वरों के द्वार विश्व-पावन !

[गीतिका में संकलित]

कहाँ परित्राण ?

कहाँ परित्राण ?
बुला रहे, बन्धु, तुम्हें प्राण।

बीते अविरत शत-शत
अब्द, शब्द अप्रतिहत
उठता—ये जो पदनत;
नहीं इन्हें स्थान ?

शक्ति-वाह उच्छृङ्खल
भूयोभूयः मङ्गल
उद्धत पदतल दलमल
बना विमल ज्ञान !—

वहाँ रहे नतमस्तक
स्तव के अवनम्र स्तवक
जो, न उठेंगे, जब तक
होंगे वे म्लान !

[गीतिका में संकलित]

वर्ण-चमत्कार

वर्ण-चमत्कार;
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।

पद - पद चल बही भाव - धारा,
निर्मल कल-कल में बँध गया विश्व सारा,
खुली मुक्ति बन्धन से बँधी फिर अपार—
वर्ण-चमत्कार !

शत - शत रँग खिला, मिला प्राण,
गूँजे गगनाङ्गण में वे अगण्य गान
दिखी रूप की छबि झंकृत-कर-स्वर-तार
वर्ण-चमत्कार !

[**गीतिका** में संकलित]

प्रात तव द्वार पर

प्रात तव द्वार पर,
आया, जननि, नैश अन्ध पथ पार कर।

लगे जो उपल पद, हुए उत्पल ज्ञात,
कण्टक चुभे जागरण बने अवदात,
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात,
अवसन्न भी हूँ प्रसन्न मैं प्राप्तवर—
प्रात तव द्वार पर।

समझ क्या वे सकेंगे, भीरु मलिन-मन,
निशाचर तेजहत रहे जो वन्य जन,
धन्य जीवन कहाँ,---मातः, प्रभात-धन,
प्राप्ति को बढ़ें जो गहें तव पद अमर—
प्रात तव द्वार पर।

[**गीतिका** में संकलित]

रही आज मन में

रही आज मन में,
वह शोभा जो देखी थी वन में।

उमड़े ऊपर नव घन, धूम - धूम अम्बर,
नीचे लहराता वन, हरित श्याम सागर;
उड़ा वसन बहती रे पवन तेज क्षण में।

नदी तीर, श्रावण, तट तीर छाप बहता,
नील डोर का हिंडोर चढ़ी - पेंग रहता,
गीत-मुखर तुम नव-स्वर विद्युत ज्यों घन में।

साथ-साथ नृत्यपरा कलि-कलि की अप्सरा,
ताल लताएँ देतीं करतल - पल्लवधरा,
भक्त मोर चरणों के नीचे, नत तन में।

[गीतिका में संकलित]

देकर अन्तिम कर

देकर अन्तिम कर
रवि गये अपर पार,
श्रमित - चरण आये
गृहिजन निज - निज द्वार।

अम्बर - पथ से मन्थर
सन्ध्या श्यामा,
उतर रही पृथ्वी पर
कोमल - पद - भार।

मन्द - मन्द बही पवन,
खुल गयी जुही,—
अञ्जलि - कल - विनत - नवल
पदतल - उपहार।

सुवसना उठी प्रिया
आनत - नयना,
भवन - दीप जला, रही
आरती उतार।

[गीतिका में संकलित]

गर्ज्जित-जीवन झरना

गर्ज्जित - जीवन झरना :
उद्देश पार पथ करना।

ऊँचा रे, नीचे आता
जीवन भर - भर दे जाता;
गाता, वह केवल गाता—
"बन्धु, तारना, तरना।"

वङ्किम - से - वङ्किम पथ पर
बढ़ता उद्दाम प्रखरतर;
बाधाएँ अपसारित कर,
कहता—"वर यों वरना।"

"सूखते हुए, निर्जीवन
होने से पहले तक, मन,
बढ़ना, मरकर बनना घन,
धारा नूतन भरना।"

[गीतिका में संकलित]

तीसरा दौर

तुलसीदास

[1]

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मण्डल;
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान;
है ऊर्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल।

[2]

शत - शत अब्दों का सान्ध्य काल
यह आकुंचित भ्रू कुटिल - भाल
छाया अम्बर पर जलद - जाल ज्यों दुस्तर;
आया पहले पंजाब प्रान्त,
कोशल - बिहार तदनन्त क्रान्त,
क्रमशः प्रदेश सब हुए भ्रान्त, घिर - घिरकर।

[3]

मोगल - दल बल के जलद - यान,
दर्पित - पद उन्मद - नद पठान
हैं बहा रहे दिग्देशज्ञान, शर - खरतर,
छाया ऊपर घन - अन्धकार—
टूटता वज्र दह दुर्निवार,
नीचे प्लावन की प्रलय - धार, ध्वनि हर - हर।

[4]

रिपु के समक्ष जो था प्रचण्ड
आतप ज्यों तम पर करोद्दण्ड;
निश्चल अब वही बुंदेलखण्ड, आभा गत,
निःशेष सुरभि, कुरबक - समान
संलग्न वृन्त पर, चिन्त्य प्राण,
बीता उत्सव ज्यों, चिह्न म्लान; छाया श्लथ।

[5]

वीरों का गढ़, वह कालिंजर,
सिंहों के लिए आज पिंजर;
नर हैं भीतर, बाहर किन्नर - गण गाते;
पीकर ज्यों प्राणों का आसव
देखा असुरों ने दैहिक दव,
बन्धन में फँस आत्मा - बांधव दुख पाते।

[6]

लड़ - लड़ जो रण बाँकुरे, समर
हो शयित देश की पृथ्वी पर,
अक्षर, निर्जर, दुर्धर्ष, अमर, जगतारण
भारत के उर के राजपूत,
उड़ गये आज वे देवदूत,
जो रहे शेष, नृपवेश सूत—बन्दीगण।

[7]

यों, मोगल - पद - तल प्रथम तूर्ण
सम्बद्ध देश - बल चूर्ण - चूर्ण;
इसलाम - कलाओं से प्रपूर्ण जन—जनपद;
संचित जीवन की क्षिप्रधार,
इसलाम - सागराभिमुखऽपार,
बहतीं नदियाँ, नद; जन - जन हार वशंवद।

[8]

अब, धौत धरा, खिल गया गगन,
उर - उर को मधुर, तापप्रशमन
बहती समीर, चिर - आलिंगन ज्यों उन्मन।

झरते हैं शशधर से क्षण - क्षण
पृथ्वी के अधरों पर निःस्वन
ज्योतिर्मय प्राणों के चुम्बन, संजीवन !

[9]

भूला दुख, अब सुख-स्वरित जाल
फैला—यह केवल - कल्प काल—
कामिनी - कुमुद - कर - कलित ताल पर चलता;
प्राणों की छवि मृदु - मन्द - स्पन्द,
लघु-गति, नियमित-पद, ललित-छन्द;
होगा कोई, जो निरानन्द, कर मलता।

[10]

सोचता कहाँ रे, किधर कूल
बहता तरंग का प्रमुद फूल ?
यों इस प्रवाह में देश मूल खो बहता;
'छल-छल-छल' कहता यद्यपि जल,
वह मन्त्र मुग्ध सुनता 'कल-कल';
निष्क्रिय; शोभा - प्रिय कूलोपल ज्यों रहता।

[11]

पड़ते हैं जो दिल्ली - पथ पर
यमुना के तट के श्रेष्ठ नगर,
वे हैं समृद्धि की दूर - प्रसर माया में;
यह एक उन्हीं में राजापुर,
है पूर्ण, कुशल, व्यवसाय - प्रचुर,
ज्योतिश्चुम्बिनी कलश - मधु - उर छाया में।

[12]

युवकों में प्रमुख रत्न - चेतन
समधीत - शास्त्र - काव्यालोचन
जो, तुलसीदास, वही ब्राह्मण - कुल - दीपक;
आयत - दृग, पुष्ट - देह, गत - भय,
अपने प्रकाश में निःसंशय
प्रतिभा का मन्द - स्मित परिचय, संस्मारक;

[13]

नीली उस यमुना के तट पर
राजापुर का नागरिक मुखर
क्रीड़ितवय - विद्याध्ययनान्तर है संस्थित;
प्रियजन को जीवन चारु, चपल
जल की शोभा का - सा उत्पल,
सौरभोत्कलित अम्बर-तल, स्थल-स्थल, दिक-दिक।

[14]

एक दिन, सखागण संग, पास,
चल चित्रकूटगिरि, सहोच्छवास,
देखा पावन वन, नव प्रकाश मन आया;
वह भाषा - छिपती छवि सुन्दर
कुछ खुलती आभा में रँगकर,
वह भाव कुरल - कुहरे - सा भरकर भाया।

[15]

केवल विस्मित मन, चिन्त्य नयन;
परिचित कुछ, भूला ज्यों प्रियजन—
ज्यों दूर दृष्टि की धूमिल - तन तट - रेखा,
हो मध्य तरंगाकुल सागर,
निःशब्द स्वप्नसंस्कारागर;
जल में अस्फुट छवि छायाधर, यों देखा।

[16]

तरु - तरु वीरुध् - वीरुध् तृण - तृण
जाने क्या हँसते मसृण - मसृण,
जैसे प्राणों से हुए उऋण, कुछ लखकर;
भर लेने को उर में, अथाह,
बाहों में फैलाया उछाह;
गिनते थे दिन, अब सफल - चाह पल रखकर।

[17]

कहता प्रति जड़, "जंगम - जीवन!
भूले थे अब तक बन्धु, प्रमन?
यह हताश्वास मन भार श्वास भर बहता;

तुम रहे छोड़ गृह मेरे कवि,
देखो यह धूलि - धूसरित छवि,
छाया इस पर केवल जड़ रवि खर दहता।

[18]

"हनती आँखों की ज्वाला चल,
पाषाण - खण्ड रहता जल - जल,
ऋतु सभी प्रबलतर बदल - बदलकर आते;
वर्षा में पंक - प्रवाहित सरि,
है शीर्ण - काय - कारण हिम अरि;
केवल दुख देकर उदरम्भरि जन जाते।

[19]

"फिर असुरों से होती क्षण-क्षण
स्मृति की पृथ्वी यह, दलित-चरण;
वे सुप्त भाव, गुप्ताभूषण अब हैं सब;
इस जग के मग के मुक्त - प्राण !
गाओ—विहंग ! —सद्ध्वनित गान,
त्यागोज्जीवित, वह ऊर्ध्व ध्यान, धारा-स्तव।

[20]

"लो चढ़ा तार— लो चढ़ा तार,
पाषाण - खण्ड ये, करो हार,
दे स्पर्श अहल्योद्धार - सार उस जग का;
अन्यथा यहाँ क्या ? अन्धकार,
बन्धुर पथ, पंकिल सरि, कगार,
झरने, झाड़ी, कंटक; विहार पशु - खग का !

[21]

"अब स्मर के शर - केशर से झर
रँगती रज - रज पृथ्वी, अम्बर;
छाया उससे प्रतिमानस - सर शोभाकर;
छिप रहे उसी से वे प्रियतम
छवि के निश्छल देवता परम;
जागरणोपम यह सुप्ति-विरम भ्रम, भ्रम भर।"

[22]

वहकर समीर ज्यों पुष्पाकुल
वन को कर जाती है व्याकुल,
हो गया चित्त कवि का त्यों तुलकर उन्मन;
वह उस शाखा का वन-विहंग
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग—रंग पर जीवन।

[23]

दूर, दूरतर, दूरतम, शेष,
कर रहा पार मन नभोदेश,
सजता सुवेश, फिर-फिर सुवेश जीवन पर,
छोड़ता रंग, फिर-फिर सँवार
उड़ती तरंग ऊपर अपार
सन्ध्या ज्योतिः ज्यों सुविस्तार अम्बर तर।

[24]

उस मानस उर्ध्व देश में भी
ज्यों राहु-ग्रस्त आभा रवि की
देखी कवि ने छवि छाया-सी, भरती-सी—
भारत का सम्यक् देशकाल;
खिंचता जैसे तम-शेष जाल,
खींचती, वृहत् से अन्तराल करती-सी।

[25]

बँध भिन्न-भिन्न भावों के दल
क्षुद्र से क्षुद्रतर, हुए विकल;
पूजा में भी प्रतिरोध-अनल है जलता;
हो रहा भस्म अपना जीवन,
चेतना-हीन फिर भी चेतन;
अपने ही मन को यों प्रति मन है छलता।

[26]

इसने ही जैसे बार-बार
दूसरी शक्ति की की पुकार—
साकार हुआ ज्यों निराकार, जीवन में;

यह उसी शक्ति से है वलयित
चित देश - काल का सम्यक् जित,
ऋतु का प्रभाव जैसे संचित तरु - तन में !

[27]

विधि की इच्छा सर्वत्र अटल;
यह देश प्रथम ही था हत - बल;
वे टूट चुके थे ठाट सकल वर्णों के;
तृष्णोद्धत, स्पर्धागत, सगर्व
क्षत्रिय रक्षा से रहित सर्व;
द्विज चाटुकार; हत इतर वर्ग पर्णों के।

[28]

चलते - फिरते, पर निस्सहाय,
वे दीन, क्षीण कंकालकाय;
आशा - केवल जीवनोपाय उर - उर में;
रण के अश्वों से शस्य सकल
दलमल जाते ज्यों, दल से दल
शूद्रगण क्षुद्र - जीवन - सम्बल, पुर - पुर में।

[29]

वे शेष - श्वास, पशु, मूक - भाष,
पाते प्रहार अब हताश्वास;
सोचते कभी, आजन्म ग्रास द्विजगण के
होना ही उनका धर्म परम,
वे वर्णाधम, रे द्विज उत्तम,
वे चरण—चरण बस, वर्णाश्रम—रक्षण के।

[30]

रक्खा उन पर गुरु - भार, विषम
जो पहला पद, अब मद-विष-सम,
द्विज लोगों पर इस्लाम - क्षम वह छाया,
जो देश - काल को आवृत कर
फैली है सूक्ष्म मनोनभ पर,
देखी कवि ने समझा अब—वर, क्या माया।

[31]

इस छाया के भीतर हैं सब,
है बँधा हुआ सारा कलरव,
भूले सब इस तम का आसव पी - पीकर।
इसके भीतर रह देश - काल
हो सकेगा न रे मुक्त - भाल,
पहले का - सा उन्नत विशाल ज्योतिःसर।

[32]

दीनों की भी दुर्बल पुकार
कर सकती नहीं कदापि पार
पार्थिवैश्वर्य का अन्धकार पीड़ाकर,
जब तक कांक्षाओं के प्रहार
अपने साधन को बार - बार
होंगे भारत पर इस प्रकार तृष्णापर।

[33]

सोचा कवि ने, मानस - तरंग,
यह भारत - संस्कृति पर सभंग
फैली जो, लेती संग - संग, जन - गण को;
इस अनिल - वाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिर्मय घर,
रविकुल - जीवन - चुम्बनकर मानस - धन जो।

[34]

है वही मुक्ति का सत्य रूप,
यह कूप - कूप भव—अन्ध कूप;
वह रंक, यहाँ जो हुआ भूप, निश्चय रे।
चाहिए उसे और भी और,
फिर साधारण को कहाँ ठौर?
जीवन के, जग के, यही तौर हैं जय के।

[35]

करना होगा यह तिमिर पार—
देखना सत्य का मिहिर - द्वार—
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय—

लड़ना विरोध से द्वन्द्व - समर,
रह सत्य - मार्ग पर स्थिर निर्भर—
जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय।

[36]

कल्मषोत्सार कवि के दुर्दम
चेतनोर्मियों के प्राण प्रथम
वह रुद्ध द्वार का छाया - तम तरने को—
करने को ज्ञानोद्धत प्रहार—
तोड़ने को विषम वज्र - द्वार;
उमड़े, भारत का भ्रम अपार हरने को।

[37]

उस क्षण, उस छाया के ऊपर,
नभ - तम की - सी तारिका सुघर;
आ पड़ी, दृष्टि में, जीवन पर, सुन्दरतम
प्रेयसी, प्राणसंगिनी, नाम
शुभ रत्नावली—सरोज - दाम
वामा, इस पथ पर हुई वाम सरितोपम।

[38]

'जाते हो कहाँ?' तुले तिर्यक्
दृग, पहनाकर ज्योतिर्मय स्रक्
प्रियतम को ज्यों, बोले सम्यक् शासन से;
फिर लिये मूँद वे पल पक्ष्मल—
इन्दीवर के - से कोश विमल;
फिर हुई अदृश्य शक्ति पुष्कल उस तन से।

[39]

उस ऊँचे नभ का, गुंजनपर,
मंजुल जीवन का मन - मधुकर,
खुलती उस दृग - छवि में बँधकर, सौरभ को
बैठा ही था सुख से क्षण - भर,
मुँद गये पलों के दल मृदुतर,
रह गया उसी उर के भीतर, अक्षम हो।

[40]

उसके अदृश्य होते ही रे,
उतरा वह मन धीरे - धीरे,
केशर - रज - कण अब हैं हीरे—पर्वतचय;
यह वही प्रकृति पर रूप अन्य;
जगमग - जगमग सब वेश वन्य;
सुरभित दिशि-दिशि, कवि हुआ धन्य, मायाशय।

[41]

यह श्री पावन, गृहिणी उदार;
गिरि-वर उरोज, सरि पयोधार
कर वन - तरु, फैला फल निहारती देती,
सब जीवों पर है एक दृष्टि,
तृण - तृण पर उसकी सुधा-वृष्टि;
प्रेयसी, बदलती वसन सृष्टि नव लेती।

[42]

ये जिस कर के रे झंकृत स्वर
गूँजते हुए इतने सुखकर,
खुलते, खोलते प्राण के स्तर भर जाते;
व्याकुल आलिंगन को, दुस्तर,
रागिनी की लहर, गिरि-वन-सर
तरती; जो ध्वनित, भाव सुन्दर कहलाते!

[43]

यों धीरे - धीरे उतर - उतर;
आया मन निज पहली स्थिति पर;
खोले दृग, वैसी ही प्रान्तर की रेखा;
विश्राम के लिए मित्र - प्रवर
बैठे थे ज्यों, बैठे पथ पर;
वह खड़ा हुआ, त्यों ही रहकर यह देखा।

[44]

फिर पंचतीर्थ को चढ़े सकल
गिरिमाला पर, हैं प्राण चपल
सन्दर्शन को, आतुर - पद चलकर पहुँचे।

फिर कोटितीर्थ देवांगनादि
लख सार्थक-श्रम हो विगत-व्याधि
नग्न - पद चले, कंटक उपाधि भी, न कुँचे।

[45]

आये हनुमद्धारा द्रुततर,
झरता झरना वीर पर प्रखर,
लखकर कवि रहा भाव में भरकर क्षण-भर;
फिर उतरे गिरि, चल किया पार
पथ—पयस्विनी सरि मृदुल धार;
स्नानान्त, भजन, भोजन, विहार, गिरि-पद पर।

[46]

कामदगिरि का कर परिक्रमण
आये जानकी - कुण्ड सब जन;
फिर स्फटिकशिला, अनसूया-वन सरि-उद्गम;
फिर भरतकूप, रह इस प्रकार,
कुछ दिन सब जन कर वन-विहार
लौटे निज - निज गृह हृदय धार छवि निरुपम।

[47]

प्रेयसी के अलक नील, व्योम;
दृग-पल कलंक;—मुख मंजु, सोम;
निःसृत प्रकाश जो, तरुण क्षोम प्रिय तन पर;
पुलकित प्रतिपल मानस-चकोर
देखता भूल दिक् उसी ओर;
कुल इच्छाओं का वही छोर जीवन - भर।

[48]

जिस शुचि प्रकाश का सौर - जगत्
रुचि-रुचि में खुला, असत् भी, सत्,
वह बँधा हुआ है एक महत् परिचय से;
अविनश्वर वही ज्ञान भीतर,
बाहर भ्रम, भ्रमरों को, भास्वर;
वह रत्नावली - सूत्रधर पर आशय से।

[49]

देखता, नवल चल दीप युगल
नयनों के, आभा के कोमल;
प्रेयसी के, प्रणय के, निस्तल विभ्रम के,
गृह की सीमा के स्वच्छभास—
भीतर के, बाहर के प्रकाश,
जीवन के, भावों के विलास, शम-दम के।

[50]

पर वही द्वन्द्व के भी कारण,
बन्ध की श्रृंखला के धारण,
निर्वाण के पथिक के वारण, करुणामय;
वे पलकों के उस पार, अर्थ
हो सका न, वे ऐसे समर्थ;
सारा विवाद हो गया व्यर्थ, जीवन-क्षय।

[51]

उस प्रियावरण प्रकाश में बँध,
सोचता, "सहज पड़ते पग सध;
शोभा को लिये ऊर्ध्व औ' अध घर बाहर,
यह विश्व, सूर्य, तारक-मण्डल,
दिन, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष चपल;
बँध गति-प्रकाश में बुद्ध सकल पूर्वापर।

[52]

"बन्ध के बिना, कह, कहाँ प्रगति?
गति-हीन जीव को कहाँ सुरति?
रति रहित कहाँ सुख? केवल क्षति—केवल क्षति;
यह क्रम-विनाश; इससे चलकर
आता सत्वर मन निम्न उतर;
छूटता अन्त में चेतन स्तर, जाती मति।

[53]

"देखो प्रसून को वह उन्मुख!
रँग-रेणु-गन्ध भर व्याकुल-सुख,
देखता ज्योतिमुख; आया दुख-पीड़ा सह।

चटका कलि का अवरोध सदल,
वह शोधशक्ति, जो गन्धोच्छल,
खुल पड़ती पल-प्रकाश को, चल परिचय वह।

[54]

"जिस तरह गन्ध से बँधा फूल,
फैलता दूर तक भी, समूल;
अप्रतिम प्रिया से, त्यों दुकूल-प्रतिमा में
मैं बँधा एक शुचि आलिंगन,
आकृति में निराकार, चुम्बन;
युक्त भी मुक्त यों आजीवन, लघिमा में।"

[55]

सोचता कौन प्रतिहत - चेतन—
वे नहीं प्रिया के नयन, नयन;
वह केवल वहाँ मीन - केतन, युवती में;
अपने वश में कर पुरुष - देश
है उड़ा रहा ध्वज - मुक्तकेश;
तरुणी - तनु आलम्बन - विशेष, पृथ्वी में ?

[56]

वह ऐसी जो अनुकूल युक्ति,
जीव के भाव की नहीं मुक्ति,
वह एक भुक्ति, ज्यों मिली शुक्ति से मुक्ता;
जो ज्ञानदीप्ति, वह दूर, अजर,
विश्व के प्राण के भी ऊपर;
माया वह, जो जीव से सुघर संयुक्ता।

[57]

मृत्तिका एक कर सार - ग्रहण
खुलते रहते बहुवर्ण सुमन,
त्यों रत्नावली - हार में बँध मन चमका,
पाकर नयनों की ज्योति प्रखर,
ज्यों रविकर से श्यामल जलधर,
बहु वर्णों के भावों से भरकर दमका।

[58]

वह रत्नावली, नाम - शोभन
पति - रति में प्रतनु, अतः लोभन
अपरिचित - पुण्य अक्षय क्षोभन धन कोई;
प्रियकरालम्ब को सत्य - यष्टि;
प्रतिमा में श्रद्धा की समष्टि;
मायायन में प्रिय - शयन व्यष्टि भर सोयी;—

[59]

लखती ऊषारुण, मौन, राग,
सोते पति से वह रही जाग;
प्रेम के फाग में आग त्याग की तरुणा;
प्रिय के जड़ युग कूलों को भर
बहती ज्यों स्वर्गंगा सस्वर;
नश्वरता पर अलोक - सुघर दृक् - करुणा।

[60]

धीरे - धीरे वह हुआ पार
तारा - द्युति से बँध अन्धकार;
एक दिन बिदा को बन्धु द्वार पर आया;
लख रत्नावली खुली सहास;
अवरोध - रहित बढ़, गयी पास;
बोला भाई; "हँसती उदास तू छाया—

[61]

"हो गयी रतन, कितनी दुर्बल;
चिन्ता में बहन, गयी तू गल?
माँ, बापूजी, भाभियाँ सकल पड़ोस की
हैं विकल देखने को सत्वर;
सहेलियाँ सब, ताने देकर;
कहती हैं, बेचा वर के कर, आ न सकी!

[62]

"तुझसे पीछे भेजी जाकर
आयीं वे कई बार नैहर;
पर तुझे भेजते क्यों श्रीवरजी डरते?

हम कई बार आ-आकर घर
लौटे पाकर झूठे उत्तर;
क्यों बहन, नहीं तू सम, उन पर बल करते ?

[63]

"आँसुओं भरी माँ दुख के स्वर
बोलीं, रतन से कहो जाकर,
क्या नहीं मोह कुछ माता पर अब तुमको ?
जामाताजी वाली ममता
माँ से तो पाती उत्तमता।
बोले बापू, योगी रमता मैं अब तो—

[64]

"कुछ ही दिन को हूँ कूल-द्रुम;
छू लूँ पद फिर, कह देना तुम।
बोली भाभी, लाना कुंकुम-शोभा को।
फिर किया अनावश्यक प्रलाप,
जिसमें जैसी स्नेह की छाप !
पर अकथनीय करुणा-विलाप जो माँ को।

[65]

"हम बिना तुम्हारे आये घर;
गाँव की दृष्टि से गये उतर;
क्यों बहन, ब्याह हो जाने पर, घर पहला
केवल कहने को है नैहर ?—
दे सकता नहीं स्नेह-आदर ?—
पूजे पद, हम इसलिए अपर ?" उर दहला

[66]

उस प्रतिमा का, आया तब खुल
मर्यादागर्भित धर्म विपुल,
धुल अश्रु-धार से हुई अतुल छवि पावन,
वह घेर-घेर निस्सीम गगन
उमड़े भावों के घन पर घन,
फैला, ढक सघन स्नेह-उपवन, यह सावन।

[67]

बोली वह, मृदु - गम्भीर - घोष,
"मैं साथ तुम्हारे, करो तोष।"
जिस पृथ्वी से निकली सदोष वह सीता,
अंक में उसी के आज लीन—
निज मर्यादा पर समासीन;
दे गयी सुहृद् को स्नेह - क्षीण गत गीता।

[68]

बोला भाई, "तो चलो अभी,
अन्यथा, न होंगे सफल कभी
हम, उनके आ जाने पर, जी यह कहता।
जब लौटें वह, हम करें पार
राजापुर के ये मार्ग, द्वार।"
चल दी प्रतिमा। घर अन्धकार अब बहता।

[69]

लेते सौदा जब खड़े हाट,
तुलसी के मन आया उचाट;
सोचा, अबके किस घाट उतारें इनको;
जब देखो, तब द्वार पर खड़े,
उधार लाये हम, चले बड़े!
दे दिया दान तो अड़े पड़े अब किनको?

[70]

सामग्री ले लौटे जब घर,
देखा नीलम - सोपानों पर
नभ के, चढ़ती आभा सुन्दर पग धर - धर;
श्वेत, श्याम, रक्त, पराग - पीत,
अपने सुख से ज्यों सुमन भीत;
गाती यमुना नृत्यपर, गीत कल - कल स्वर।

[71]

देखा, वह नहीं प्रिया, जीवन;
नत - नयन भवन, विषण्ण आँगन;
आवरण शून्य वे बिना वरण - मधुरा के

अपहृत - श्री, सुख - स्नेह का सद्म;
नि:सुरभि, हंत, हेमन्त - पद्म!
नैतिक - नीरस, निष्प्रीति, छद्म ज्यों, पाते।

[72]

यह नहीं आज गृह, छाया - उर,
गीति से प्रिया की मुखर, मधुर;
गति - नृत्य, तालशिंजित - नूपुर, चरणारुण;
व्यंजित नयनों का भाव सघन
भर रंजित जो करता क्षण - क्षण;
कहता कोई मन से, उन्मन, सुन रे, सुन।

[73]

वह आज हो गयी दूर तान,
इसलिए मधुर वह और गान,
सुनने को व्याकुल हुए प्राण प्रियतम के;
छूटा जग का व्यवहार - ज्ञान,
पग उठे उसी मग को अजान,
कुल - मान - ध्यान श्लथ स्नेह - दान - सक्षम से।

[74]

मग में पिक - कुहरित डाल - डाल,
हैं हरित विटप सब सुमन - माल,
हिलतीं लतिकाएँ ताल - ताल पर सस्मित।
पड़ता उन पर ज्योतिः प्रपात,
हैं चमक रहे सब कनक - गात,
बहती मधु - धीर समीर ज्ञात, आलिंगित।

[75]

धूसरित बाल - दल, पुण्य - रेणु,
लख चारण - वारण - चपल धेनु,
आ गयी याद उस मधुर - वेणु - वादन की;
वह यमुना - तट, वह वृन्दावन,
चपलानन्दित यह सघन गगन;
गोपी - जन - यौवन - मोहन - तन वह वन - श्री।

[76]

सुनते सुख की वंशी के सुर,
पहुँचे रत्नधर रमा के पुर;
लख सादर, उठी समाज श्वसुर - परिजन की;
बैठाला देकर मान - पान;
कुछ जन बतलाये कान - कान;
सुन बोली भाभी, यह पहचान रतन की।

[77]

जल गये व्यंग्य से सकल अंग,
चमकी चल - दृग ज्वाला - तरंग,
पर रही मौन धर अप्रसंग वह बाला;
पति की इस मति - गति से मरकर,
उर की उर में ज्यों, ताप - क्षर,
रह गयी सुरभि की म्लान - अधर वर - माला।

[78]

बोली मन में होकर अक्षम,
रक्खो, मर्यादा पुरुषोत्तम!
लाज का आज भूषण, अक्लम, नारी का;
खींचता छोर, यह कौन और
पैठा उनमें जो अधर चौर?
खुलता अब अंचल, नाथ, पौर साड़ी का!

[79]

कुछ काल रहा यों स्तब्ध भवन,
ज्यों आँधी के उठने का क्षण;
प्रिय श्रीवरजी को जिवाँ शयन करने को
ले चली साथ भावज हरती
निज प्रियालाप से वश करती,
वह मधु - शीकर निर्झर झरती झरने को।

[80]

जेंए फिर चल गृह के सब जन,
फिर लौटे निज - निज कक्ष शयन;
प्रिय - नयनों में बँध प्रिया - नयन चयनोत्कल

पलकों से स्फारित, स्फुरित - राग
सुनहला भरे पहला सुहाग,
रग - रग से रँग रे रहे जाग स्वप्नोत्पल।

[81]

कवि-रुचि में घिर छलकता रुचिर,
जो, न था भाव वह छवि का स्थिर—
बहती उलटी ही आज रुधिर - धारा वह,
लख-लख प्रियतम-मुख पूर्ण-इन्दु
लहराया जो उर मधुर सिन्धु,
विपरीत, ज्वार, जल - विन्दु - विन्दु द्वारा वह।

[82]

अस्तु रे, विवश, मारुत - प्रेरित,
पर्वत - समीप आकर ज्यों स्थित
घन - नीलालका दामिनी जित ललना वह;
उन्मुक्त-गुच्छ चक्रांक-पुच्छ,
लख नर्तित कवि-शिखि-मन समुच्च
वह जीवन की समझा न तुच्छ छलना वह!

[83]

बिखरी छूटीं शफरी - अलकें,
निष्पात नयन - नीरज पलकें,
भावातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता,
निःसम्बल केवल ध्यान - मग्न,
जागी योगिनी अरूप - लग्न,
वह खड़ी शीर्ण प्रिय - भाव - मग्न निरुपमिता।

[84]

कुछ समय अनन्तर, स्थित रहकर,
स्वर्गीयाभा वह स्वरित प्रखर
स्वर में झर - झर जीवन भरकर ज्यों बोली;
अचपल ध्वनि की चमकी चपला,
बल की महिमा बोली अबला,
जागी जल पर कमला, अमला मति डोली—

[85]

"धिक! धाये तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल-धर्म धूत,
राम के नहीं, काम के सूत कहलाये!
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ—हाड़, चाम!
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आये!"

[86]

जागा, जागा संस्कार प्रबल,
रे गया काम तत्क्षण वह जल,
देखा, वामा, वह न थी, अनल-प्रतिमा वह;
इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान,
हो गया भस्म वह प्रथम भान,
छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह।

[87]

देखा शारदा नील-वसना
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना,
जीवन-समीर-शुचि-निःश्वसना, वरदात्री,
वाणी वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटी तर अमृताक्षर-निर्झर,
यह विश्व हंस, है चरण सुघर जिस पर श्री।

[88]

दृष्टि से भारती से बँधकर
कवि उठता हुआ चला ऊपर;
केवल अम्बर—केवल अम्बर फिर देखा;
धूमायमान वह घूर्ण्य प्रसर
धूसर समुद्र शशि-ताराहर,
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर रेखा।

[89]

चमकी तब तक तारा नवीन,
द्युति-नील-नील, जिसमें विलीन
सो गयी भारती, रूप-क्षीण महिमा अब;

आभा भी क्रमशः हुई मन्द,
निस्तब्ध व्योम—गति-रहित छन्द;
आनन्द रहा, मिट गये द्वन्द्व, बन्धन सब।

[90]

थे मुँदे नयन, ज्ञानोन्मीलित,
कलि में सौरभ ज्यों, चित में स्थित;
अपनी असीमता में अवसित प्राणाशय;
जिस कलिका में कवि रहा बन्द,
वह आज उसी में खुली मन्द,
भारती रूप में सुरभि - छन्द निष्प्रश्रय।

[91]

जब आया फिर देहात्मबोध,
बाहर चलने का हुआ शोध,
रह निर्विरोध, गति हुई रोध - प्रतिकूला,
खोलती मृदुल दल बन्द सकल
गुदगुदा विपुल धारा अविचल
बह चली सुरभि की ज्यों उत्कल, निःशूला—

[92]

बाजीं बहती लहरें कलकल,
जागे भावाकुल शब्दोच्छल,
गूँजा जग का कानन - मण्डल, पर्वत - तल;
सूना उर ऋषियों का ऊना
सुनता स्वर, हो हर्षित, दूना,
आसुर भावों से जो भूना, था निश्चल।

[93]

"जागो जागो आया प्रभात,
बीती वह, बीती अन्ध रात,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वांचल;
बाँधो, बाँधो किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन;
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमाबल।

[94]

"होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशिवासर,
कवि का प्रति छवि से जीवनहर, जीवन-भर;
भारती इधर, हैं उधर सकल
जड़ जीवन के संचित कौशल;
जय, इधर ईश, हैं उधर सबल माया-कर।

[95]

"हो रहे आज जो खिन्न-खिन्न
छुट-छुटकर दल से भिन्न-भिन्न
यह अकल-कला, गह सकल छिन्न, जोड़ेगी,
रवि-कर ज्यों विन्दु-विन्दु जीवन
संचित कर करता है वर्षण,
लहरा भव - पादप, मर्षण - मन मोड़ेगी।

[96]

"देश-काल के शर से बिंधकर
यह जागा कवि अशेष, छविधर
इनका स्वर भर भारती मुखर होयेंगी;
निश्चेतन, निज तन मिला विकल,
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोयेंगी।

[97]

"तम के अमार्ज्य रे तार - तार
जो, उन पर पड़ी प्रकाश - धार;
जग-वीणा के स्वर के बहार रे, जागो;
इस कर अपने कारुणिक प्राण
कर लो समक्ष देदीप्यमान—
दे गीत विश्व को रुको, दान फिर माँगो।"

[98]

कुछ हुआ कहाँ, कुछ नहीं सुना,
कवि ने निज मन भाव में गुना,
साधना जगी केवल अधुना प्राणों की,

देखा सामने, मूर्ति छल - छल
नयनों में छलक रही अचपल,
उपमिता न हुई समुच्च सकल तानों की।

[99]

जगमग जीवन का अन्त्य भाष—
"जो दिया मुझे तुमने प्रकाश,
अब रहा नहीं लेशावकाश रहने का
मेरा उससे गृह के भीतर;
देखूँगा नहीं कभी फिरकर,
लेता मैं, जो वर जीवन - भर बहने का।"

[100]

चल मन्दचरण आये बाहर,
उर में परिचित वह मूर्ति सुघर
जागी विश्वाश्रय महिमाधर, फिर देखा—
संकुचित, खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुख-जल,
प्राची - दिगन्त - उर में पुष्कल रवि - रेखा।

[रचनाकाल : 1934 ई.। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, के फरवरी, मार्च, अप्रैल, मई और जुलाई, 1935 के अंकों में पाँच किस्तों में प्रकाशित]

दान

वासन्ती की गोद में तरुण,
सोहता स्वस्थ - मुख बालारुण;
चुम्बित, सस्मित, कुञ्जित, कोमल
तरुणियों सदृश किरणें चंचल;
किसलयों के अधर यौवन - मद
रक्ताभ; मञ्जु उड़ते षट्पद
खुलती कलियों से कलियों पर
नव आशा—नवल स्पन्द भर-भर;

व्यञ्जित सुख का जो मधु-गुञ्जन
वह पुञ्जीकृत वन - वन उपवन;
हेम - हार पहने अमलतास;
हँसता रक्ताम्बर वर पलास;
कुन्द के शेष . पूजार्घ्यदान,
मल्लिका प्रथम - यौवन - शयान;
खुलते स्तबकों की लज्जाकुल
नतवदना मधुमाधवी अतुल;
निकला पहला अरविन्द आज,
देखता अनिन्द्य रहस्य-साज;
सौरभ - वसना समीर बहती,
कानों में प्राणों की कहती;
गोमती क्षीण - कटि नटी नवल,
नृत्यपर मधुर - आवेश - चपल।
मैं प्रातः पर्यटनार्थ चला
लौटा, आ पुल पर खड़ा हुआ;
सोचा—"विश्व का नियम निश्चल,
जो जैसा, उसको वैसा फल
देती यह प्रकृति स्वयं सदया,
सोचने को न कुछ रहा नया;
सौन्दर्य, गीत, बहु वर्ण, गन्ध,
भाषा, भावों के छन्द - बन्ध,
और भी उच्चतर जो विलास,
प्राकृतिक दान वे, सप्रयास
या अनायास आते हैं सब,
सबमें है श्रेष्ठ, धन्य मानव।"
फिर देखा, उस पुल के ऊपर
बहुसंख्यक बैठे हैं वानर।
एक ओर पथ के, कृष्णकाय
कंकालशेष नर मृत्यु-प्राय
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल,
भिक्षा को उठी दृष्टि निश्चल;
अति क्षीण कण्ठ, है तीव्र श्वास,
जीता ज्यों जीवन से उदास।
ढोता जो, वह कौन - सा शाप ?
भोगता कठिन, कौन - सा पाप ?

यह प्रश्न सदा ही है पथ पर,
पर सदा मौन इसका उत्तर!
जो बड़ी दया का उदाहरण,
वह पैसा एक, उपायकरण!
मैंने झुक नीचे को देखा,
तो झलकी आशा की रेखा:--
विप्रवर स्नान कर चढ़ा सलिल
शिव पर दूर्वादल, तण्डुल, तिल,
लेकर झोली आये ऊपर,
देखकर चले तत्पर वानर।
द्विज राम-भक्त, भक्ति की आश
भजते शिव को बारहो मास;
कर रामायण का पारायण
जपते हैं श्रीमन्नारायण;
दुख पाते जब होते अनाथ,
कहते कपियों से जोड़ हाथ,
मेरे पड़ोस के वे सज्जन;
करते प्रतिदिन सरिता - मज्जन;
झोली से पुए निकाल लिये,
बढ़ते कपियों के हाथ दिये;
देखा भी नहीं उधर फिरकर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर;
चिल्लाया किया दूर दानव,
बोला मैं—"धन्य, श्रेष्ठ मानव!"

[रचनाकाल : 15 अप्रैल, 1935। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1935, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

मित्र के प्रति

[1]

कहते हो, "नीरस यह
बन्द करो गान—
कहाँ छन्द, कहाँ भाव,
कहाँ यहाँ प्राण?

थी सर प्राचीन सरस,
सारस - हंसों से हँस;
वारिज - वारिद में बस
रहा विवश प्यार;
जल - तरंग ध्वनि; कलकल
बजा तट - मृदंग सदल;
पेंगें भर पवन कुशल
गाती मल्लार।"

[2]

सत्य, बन्धु, सत्य; वहाँ
नहीं अर्र - बर्र;
नहीं वहाँ भेक, वहाँ
नहीं टर्र - टर्र।
एक यहीं आठ पहर
बही पवन हहर - हहर,
तपा तपन ठहर - ठहर
सजल कण उड़े;
गये सूख भरे ताल,
हुई रूख हरे शाल,
हाय रे, मयूर - व्याल
पूंछ से जुड़े!

[3]

देखा कुछ इसी समय
दृश्य और - और
इसी ज्वाल में लहरे
हरे ठौर - ठौर?
नूतन पल्लव - दल, कलि,
मँडलाते व्याकुल अलि,
तनु - तन पर जाते बलि
बार - बार हार;
बही जो सुवास मन्द
मधुर - भार - भरण - छन्द,
मिली नहीं तुम्हें, बन्द
रहे, बन्धु, द्वार।

[4]

इसी समय झुकी आम्र—
शाखा फल-भार
मिली नहीं क्या जब यह
देखा संसार ?
उसके भीतर जो स्तव,
सुना नहीं कोई रव ?
हाय दैव, दव - ही - दव
बन्धु को मिला !
कुहरित भी पञ्चम स्वर,
रहे बन्द कर्ण - कुहर,
मन पर प्राचीन मुहर,
हृदय पर शिला।

[5]

सोचो तो क्या थी वह
भावना पवित्र,
बँधा जहाँ भेद भूल
मित्र से अमित्र।
तुम्हीं एक रहे मोड़
मुख, प्रिय, मित्र छोड़;
कहो, कहो, कहाँ होड़
जहाँ जोड़, प्यार ?
इसी रूप में रह स्थिर,
इसी भाव में घिर - घिर,
करोगे अपार तिमिर-
सागर को पार ?

[6]

वही बन्धु, वायु प्रबल
जो न बँध सकी;
देखते थके तुम, बहती
न वह थकी।
समझो वह प्रथम वर्ष,
रुका नहीं मुक्त हर्ष,
यौवन दुर्धर्ष कर्ष-
मर्ष से लड़ा;

ऊपर मध्याह्न तपन
तपा किया, सन्-सन्-सन्
हिला-झुला तरु अगणन
बही वह हवा।

[7]

उड़ा दी गयी जो, वह भी
गयी उड़ा,
जली हुई आग, कहो,
कब गयी जुड़ा ?
जो थे प्राचीन पत्र
जीर्ण-शीर्ण, नहीं छत्र,
झड़े हुए यत्र-तत्र
पड़े हुए थे,
उन्हीं से अपार प्यार
बँधा हुआ था असार,
मिला दुःख निराधार
तुम्हें इसलिए।

[8]

बही तोड़ बन्धन
छन्दों का निरुपाय,
वही किया कि फिर-फिर
हवा 'हाय-हाय'।
कमरे में, मध्य याम,
करते तब तुम विराम,
रचते अथवा ललाम
गतालोक लोक,
वह भ्रम मरुपथ पर की
यहाँ-वहाँ व्यस्त फिरी,
जला शोक-चिह्न, दिया
रँग विटप अशोक।

[9]

करती विश्राम, कहीं
नहीं मिला स्थान,
अन्ध-प्रगति-बन्ध किया
सिन्धु को प्रयाण;

उठा उच्च ऊर्मि - भंग—
सहसा शत - शत तरंग,
क्षुब्ध लुब्ध, नील - अंग—
अवगाहन - स्नान,
किया वहाँ भी दुर्दम
देख तरी विघ्न विषम,
उलट दिया अर्थागम
बनकर तूफान।

[10]

हुई आज शान्त, प्राप्त
कर प्रशान्त - वक्ष;
नहीं त्रास, अतः मित्र,
नहीं 'रक्ष, रक्ष'।
उड़े हुए थे जो कण,
उतरे पा शुभ वर्षण,
शुक्ति के हृदय से बन
मुक्ता झलके,
लखो, दिया है पहना
किसने यह हार बना
भारति - उर में अपना,
देख दृग थके!

[रचनाकाल : 7 जुलाई, 1935। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1935, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

सच है

यह सच है :—
तुमने जो दिया दान दान वह,
हिन्दी के हित का अभिमान वह,
जनता का जन - ताक़ा ज्ञान वह,
सच्चा कल्याण वह अथच है—
यह सच है!

बार बार हार हार मैं गया,
खोजा जो हार क्षार में नया,—
उड़ी धूल, तन सारा भर गया,
नहीं फूल, जीवन अविकच है—
यह सच है !

[रचनाकाल : 7 अक्तूबर, 1935। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

सरोज-स्मृति

ऊनविंश पर जो प्रथम चरण
तेरा वह जीवन-सिन्धु-तरण;
तनये, ली कर दृक्पात तरुण
जनक से जन्म की विदा अरुण !
गीते मेरी, तज रूप-नाम
वर लिया अमर शाश्वत विराम
पूरे कर शुचितर सपर्याय
जीवन के अष्टादशाध्याय,
चढ़ मृत्यु-तरणि पर तूर्ण-चरण
कह—"पितः, पूर्ण आलोक वरण
करती हूँ मैं, यह नहीं मरण,
'सरोज' का ज्योतिःशरण—तरण"—
अशब्द अधरों का, सुना, भाष,
मैं कवि हूँ, पाया है प्रकाश
मैंने कुछ अहरह रह निर्भर
ज्योतिस्तरणा के चरणों पर।
जीवित-कविते, शत-शर-जर्जर
छोड़कर पिता को पृथ्वी पर
तू गयी स्वर्ग, क्या यह विचार—
"जब पिता करेंगे मार्ग पार
यह, अक्षम अति, तब मैं सक्षम,
तारूँगी कर गह दुस्तर तम ?"

कहता तेरा प्रयाण सविनय,—
कोई न अन्य था भावोदय।
श्रावण - नभ का स्तब्धान्धकार
शुक्ला प्रथमा, कर गयी पार!

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका!
जाना तो अर्थागमोपाय
पर रहा सदा संकुचित-काय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।
शुचिते, पहनाकर चीनांशुक
रख सका न तुझे अतः दधिमुख।
क्षीण का न छीना कभी अन्न,
मैं लख न सका वे दृग विपन्न;
अपने आँसुओं अतः बिम्बित
देखे हैं अपने ही मुख-चित।
सोचा है नत हो बार-बार—
"यह हिन्दी का स्नेहोपहार,
यह नहीं हार मेरी, भास्वर
वह रत्नहार— लोकोत्तर वर।"
अन्यथा, जहाँ है भाव शुद्ध
साहित्य - कला-कौशल - प्रबुद्ध,
हैं दिये हुए मेरे प्रमाण
कुछ वहाँ, प्राप्ति को समाधान,—
पार्श्व में अन्य रख कुशल हस्त
गद्य में पद्य में समाभ्यस्त।
देखें वे; हँसते हुए प्रवर
जो रहे देखते सदा समर,
एक साथ जब शत घात घूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण।
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर क्षेप, वह रण-कौशल।
व्यक्त हो चुका चीत्कारोत्कल
क्रुद्ध युद्ध का रुद्ध - कण्ठ फल।

और भी फलित होगी वह छवि,
जागे जीवन जीवन का रवि,
लेकर, कर कल तूलिका कला,
देखो क्या रँग भरती विमला,
वांछित उस किस लांछित छवि पर
फेरती स्नेह की कूची भर।
अस्तु मैं उपार्जन को अक्षम
कर नहीं सका पोषण उत्तम
कुछ दिन को, जब तू रही साथ,
अपने गौरव से झुका माथ।
पुत्री भी, पिता-गेह में स्थिर,
छोड़ने के प्रथम जीर्ण अजिर।
आँसुओं सजल दृष्टि की छलक,
पूरी न हुई जो रही कलक
प्राणों की प्राणों में दबकर
कहती लघु - लघु उसाँस में भर;
समझता हुआ मैं रहा देख
हटती भी पथ पर दृष्टि टेक।

तू सवा साल की जब कोमल;
पहचान रही ज्ञान में चपल,
माँ का मुख, हो चुम्बित क्षण-क्षण,
भरती जीवन में नव जीवन,
वह चरित पूर्ण कर गयी चली,
तू नानी की गोद जा पली।
सब किये वहीं कौतुक-विनोद
उस घर निशि-वासर भरे मोद;
खायी भाई की मार, विकल
रोयी, उत्पल - दल - दृग-छलछल;
चुमकारा सिर उसने निहार,
फिर गंगा - तट - सैकत विहार
करने को लेकर साथ चला,
तू गहकर चली हाथ चपला;
आँसुओं धुला मुख हासोच्छल,
लखती प्रसार वह ऊर्मि - धवल।

तब भी मैं इसी तरह समस्त,
कवि जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त;
लिखता अबाध गति मुक्त छन्द,
पर सम्पादकगण निरानन्द
वापस कर देते पढ़ सत्वर
रो एक - पंक्ति - दो में उत्तर।
लौटी रचना लेकर उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश
बैठा प्रान्तर में दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था गुन - गुन कर
सम्पादक के गुण; यथाभ्यास
पास की नोंचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर - उधर
भाव की चढ़ी पूजा उन पर।

याद है दिवस की प्रथम धूप
थी पड़ी हुई तुझ पर सुरूप,
खेलती हुई तू परी चपल,
मैं दूरस्थित प्रवास से चल
दो वर्ष बाद, होकर उत्सुक
देखने के लिए अपने मुख
था गया हुआ, बैठा बाहर
आँगन में फाटक के भीतर
मोढ़े पर, ले कुण्डली हाथ
अपने जीवन की दीर्घ गाथ।
पढ़, लिखे हुए शुभ दो विवाह
हँसता था, मन में बढ़ी चाह
खण्डित करने को भाग्य - अंक,
देखा भविष्य के प्रति अशंक।
इससे पहले आत्मीय स्वजन
सस्नेह कह चुके थे, जीवन
सुखमय होगा, विवाह कर लो
जो पढ़ी - लिखी हो—सुन्दर हो।
आये ऐसे अनेक परिणय,
पर विदा किया मैंने सविनय

सबको, जो अड़े प्रार्थना भर
नयनों में, पाने को उत्तर
अनुकूल, उन्हें जब कहा निडर—
"मैं हूँ मंगली", मुड़े सुनकर।
इस बार एक आया विवाह
जो किसी तरह भी हतोत्साह
होने को न था, पड़ी अड़चन,
आया मन में भर आकर्षण
उन नयनों का; सासु ने कहा—
"वे बड़े भले जन हैं, भय्या,
एन्ट्रेन्स पास है लड़की वह,
बोले मुझ से, छब्बिस ही तो
वर की है उम्र, ठीक ही है,
लड़की भी अट्ठारह की है।"
फिर हाथ जोड़ने लगे, कहा—
"वे नहीं कर रहे ब्याह, अहा!
हैं सुधरे हुए बड़े सज्जन!
अच्छे कवि, अच्छे विद्वज्जन!
हैं बड़े नाम उनके! शिक्षित
लड़की भी रूपवती, समुचित
आपको यही होगा कि कहें
'हर तरह उन्हें, वर सुखी रहें।'
आयेंगे कल।" दृष्टि थी शिथिल,
आयी पुतली तू खिल-खिल-खिल
हँसती, मैं हुआ पुनः चेतन,
सोचता हुआ विवाह - बन्धन।
कुण्डली दिखा बोला—"ए—लो"
आयी तू, दिया, कहा "खेलो!"
कर स्नान-शेष, उन्मुक्त - केश
सासुजी रहस्य - स्मित सुवेश
आयीं करने को बातचीत
जो कल होनेवाली, अजीत;
संकेत किया मैंने अखिन्न
जिस ओर कुण्डली छिन्न - भिन्न,
देखने लगीं वे विस्मय भर
तू बैठी सञ्चित टुकड़ों पर!

धीरे - धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्राङ्गण
कर पार, कुन्ज - तारुण्य सुघर
आयी, लावण्य - भार थर - थर
काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकौश नव वीणा पर;
नैश स्वप्न ज्यों तू मन्द-मन्द
फूटी ऊषा—जागरण - छन्द;
काँपी भर निज आलोक-भार,
काँपा वन, काँपा दिक प्रसार।
परिचय-परिचय पर खिला सकल—
नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय-दल।
क्या दृष्टि ! अतल की सिक्त-धार
ज्यों भोगावती उठी अपार,
उमड़ता ऊर्ध्व को कल सलील
जल टलमल करता नील - नील,
पर बँधा देह के दिव्य बाँध,
छलकता दृगों से साध - साध।
फूटा कैसा प्रिय कण्ठ - स्वर
माँ की मधुरिमा व्यन्जना भर।
हर पिता - कण्ठ की दृप्त - धार
उत्कलित रागिनी की बहार !
बन जन्मसिद्ध गायिका, तन्वि,
मेरे स्वर की रागिनी वह्नि
साकार हुई दृष्टि में सुघर,
समझा मैं क्या संस्कार प्रखर।
शिक्षा के बिना बना वह स्वर
है, सुना न अब तक पृथ्वी पर !
जाना बस, पिक - बालिका प्रथम
पल अन्य नीड़ में जब सक्षम
होती उड़ने को, अपना स्वर
भर करती ध्वनित मौन प्रान्तर।
तू खिंची दृष्टि में मेरी छवि,
जागा उर में तेरा प्रिय कवि,
उन्मनन - गुन्ज सज हिला कुन्ज
तरु-पल्लव कलि-दल पुन्ज-पुन्ज,

बह चली एक अज्ञात वात
चूमती केश—मृदु नवल गात,
देखती सकल निष्पलक - नयन
तू, समझा मैं तेरा जीवन।

सासु ने कहा लख एक दिवस—
"भैया अब नहीं हमारा बस,
पालना - पोसना रहा काम,
देना 'सरोज' को धन्य - धाम,
शुचि वर के कर, कुलीन लखकर,
है काम तुम्हारा धर्मोत्तर;
अब कुछ दिन इसे साथ लेकर
अपने घर रहो, ढूँढ़कर वर
जो योग्य तुम्हारे, करो ब्याह
होंगे सहाय हम सहोत्साह।"
सुनकर, गुनकर चुपचाप रहा,
कुछ भी न कहा,—न अहो, न अहा,—
ले चला साथ मैं तुझे, कनक
ज्यों भिक्षुक लेकर; स्वर्ण-झनक
अपने जीवन की, प्रभा विमल
ले आया निज गृह - छाया - तल।
सोचा मन में हत वार वार—
'ये कान्यकुब्ज - कुल - कुलाङ्गार
खाकर पत्तल में करें छेद,
इनके कर कन्या, अर्थ खेद;
इस विषय - बेलि में विष ही फल,
यह दग्ध मरुस्थल,—नहीं सुजल।'
फिर सोचा—'मेरे पूर्वजगण
गुजरे जिस राह, वही शोभन
होगा मुझको, यह लोक - रीति
कर दूँ पूरी, गो नहीं भीति
कुछ मुझे तोड़ते गत विचार;
पर पूर्ण रूप प्राचीन भार
ढोते मैं हूँ अक्षम; निश्चय
आयेगी मुझमें नहीं विनय

उतनी जो रेखा करे पार
सौहार्द - बन्ध की, निराधार।
वे जो जमुना के - से कछार
पद, फटे बिवाई के, उधार
खाये के मुख ज्यों, पिये तेल
चमरौधे जूते से सकेल
निकले, जी लेते, घोर - गन्ध,
उन चरणों को मैं यथा अन्ध,
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूं, ऐसी नहीं शक्ति।
ऐसे शिव से गिरिजा - विवाह
करने की मुझको नहीं चाह।'

फिर आयी याद—मुझे सज्जन
है मिला प्रथम ही विद्वज्जन
नवयुवक एक, सत्साहित्यिक,
कुल कान्यकुब्ज, यह नैमित्तिक
होगा कोई इङ्गित अदृश्य,
मेरे हित है हित यही स्पृश्य
अभिनन्दनीय। बँध गया भाव,
खुल गया हृदय का स्नेह-स्राव;
खत लिखा, बुला भेजा तत्क्षण,
युवक भी मिला प्रफुल्ल, चेतन।
बोला मैं—"मैं हूँ रिक्त हस्त
इस समय, विवेचन में समस्त—
जो कुछ है मेरा अपना धन
पूर्वज से मिला, करूँ अर्पण
यदि महाजनों को, तो विवाह
कर सकता हूँ; पर नहीं चाह
मेरी ऐसी, दहेज देकर
मैं मूर्ख बनूं, यह नहीं सुघर,
बारात बुलाकर मिथ्या व्यय
मैं करूँ, नहीं ऐसा सुसमय।
तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम
मैं सामाजिक योग के प्रथम,

लग्न के, पढ़ूँगा स्वयं मन्त्र
यदि पण्डितजी होंगे स्वतन्त्र।
जो कुछ मेरे, वह कन्या का,
निश्चय समझो, कुल धन्या का।"
आये पण्डितजी, प्रजावर्ग
आमन्त्रित साहित्यिक, ससर्ग
देखा विवाह आमूल नवल;
तुझ पर शुभ पड़ा कलश का जल।
देखती मुझे तू, हँसी मन्द,
होठों में बिजली फँसी, स्पन्द
उर में भर झूली छबि सुन्दर,
प्रिय की अशब्द शृंगार - मुखर
तू खुली एक उच्छ्वास - संग,
विश्वास - स्तब्ध बँध अङ्ग - अङ्ग,
नत नयनों से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर - थर - थर।
देखा मैंने, वह मूर्ति - धीति
मेरे वसन्त की प्रथम गीति—
शृंगार, रहा जो निराकार
रस कविता में उच्छ्वसित - धार
गाया स्वर्गीया - प्रिया - सङ्ग
भरता प्राणों में राग - रङ्ग
रति - रूप प्राप्त कर रहा वही,
आकाश बदलकर बना मही।

हो गया ब्याह, आत्मीय स्वजन
कोई थे नहीं, न आमन्त्रण
था भेजा गया, विवाह - राग
भर रहा न घर निशि-दिवस-जाग;
प्रिय मौन एक सङ्गीत भरा
नव जीवन के स्वर पर उतरा।
माँ की कुल शिक्षा मैंने दी,
पुष्प - सेज तेरी स्वयं रची,
सोचा मन में—'वह शकुन्तला,
पर पाठ अन्य यह, अन्य कला।'

कुछ दिन रह गृह, तू फिर समोद,
बैठी नानी की स्नेह - गोद।
मामा - मामी का रहा प्यार,
भर जलद धरा को ज्यों अपार;
वे ही सुख - दुख में रहे न्यस्त,
तेरे हित सदा समस्त, व्यस्त;
वह लता वहीं की, जहाँ कली
तू खिली, स्नेह से हिली, पली;
अन्त भी उसी गोद में शरण
ली, मूँदे दृग वर महामरण!

मुझ भाग्यहीन की तू सम्बल
युग वर्ष बाद जब हुई विकल,
दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज, जो नहीं कही!
हो इसी कर्म पर वज्रपात
यदि धर्म, रहे नत सदा माथ
इस पथ पर, मेरे कार्य सकल
हों भ्रष्ट शीत के-से शतदल!
कन्ये, गत कर्मों का अर्पण
कर, करता मैं तेरा तर्पण!

[रचनाकाल : 9 अक्तूबर, 1935। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, जनवरी, 1936, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

प्रेयसी

घेर अंग-अंग को
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की,
ज्योतिर्मयिलता-सी हुई मैं तत्काल
घेर निज तरु-तन।
खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के,
प्रथम वसन्त में गुच्छ-गुच्छ।

दृगों को रँग गयी प्रथम प्रणय-रश्मि—
चूर्ण हो विच्छुरित
विश्व-ऐश्वर्य को स्फुरित करती रही
बहु रंग-भाव भर
शिशिर ज्यों पत्र पर कनक-प्रभात के,
किरण-सम्पात से।
दर्शन-समुत्सुक युवाकुल पतंग ज्यों
विचरते मञ्जु-मुख
गुञ्ज-मृदु अलि-पुञ्ज
मुखर-उर मौन वा स्तुति-गीत में हरे।
प्रस्रवण झरते आनन्द के चतुर्दिक—
भरते अन्तर पुलकराशि से बार-बार
चक्राकार कलरव-तरंगों के मध्य में
उठी हुई उर्वशी-सी,
कम्पित प्रतनु-भार,
विस्तृत दिगन्त के पार प्रिय बद्ध-दृष्टि
निश्चल अरूप में।
हुआ रूप-दर्शन
जब कृतविद्य तुम मिले
विद्या को दृगों से,
मिला लावण्य ज्यों मूर्ति को मोहकर,—
शेफालिका को शुभ्र हीरक-सुमन-हार,—
श्रृंगार
शुचिदृष्टि मूक रस-सृष्टि को।
याद है, उषःकाल,—
प्रथम-किरण-कम्प प्राची के दृगों में,
प्रथम पुलक फुल्ल चुम्बित वसन्त की
मञ्जरित लता पर,
प्रथम विहग-बालिकाओं का मुखर स्वर
प्रणय-मिलन-गान,
प्रथम विकच कलि वृन्त पर नग्न-तनु
प्राथमिक पवन के स्पर्श से काँपतीं;
करती विहार
उपवन में मैं, छिन्न-हार
मुक्ता-सी निःसंग,
बहु रूप-रंग वे देखती, सोचतीं;

मिले तुम एकाएक;
देख मैं रुक गयी :—
चल पद हुए अचल,
आप ही अपल दृष्टि,
फैला समष्टि में खिच स्तब्ध मन हुआ।
दिये नहीं प्राण जो इच्छा से दूसरे को,
इच्छा से प्राण वे दूसरे के हो गये!
दूर थी,
खिचकर समीप ज्यों मैं हुई
अपनी ही दृष्टि में;
जो था समीप विश्व,
दूर दूरतर दिखा।
मिली ज्योति-छबि से तुम्हारी
ज्योति-छबि मेरी,
नीलिमा ज्यों शून्य से;
बँधकर मैं रह गयी;
डूब गये प्राणों में
पल्लव-लता-भार
वन-पुष्प-तरु-हार
कूजन-मधुर चल विश्व के दृश्य सब,—
सुन्दर गगन के भी रूप-दर्शन सकल—
सूर्य-हीरकधरा प्रकृति नीलाम्बरा,
सन्देशवाहक बलाहक विदेश के।
प्रणय के प्रलय में सीमा सब खो गयी!
बँधी हुई तुमसे ही
देखने लगी मैं फिर-
फिर प्रथम पृथ्वी को;
भाव बदला हुआ—
पहले की घन-घटा वर्षण बनी हुई;
कैसा निरञ्जन यह अञ्जन आ लग गया!
देखती हुई सहज
हो गयी मैं जड़ीभूत,
जगा देहज्ञान,
फिर याद गेह की हुई;
लज्जित
उठे चरण दूसरी ओर को

विमुख अपने से हुई !
चली चुपचाप,
मूक सन्ताप हृदय में,
पृथुल प्रणय-भार ।
देखते निमेषहीन नयनों से तुम मुझे
रखने को चिरकाल बाँधकर दृष्टि से
अपना ही नारी रूप, अपनाने के लिए,
मर्त्य में स्वर्गसुख पाने के अर्थ, प्रिय,
पीने को अमृत अंगों से झरता हुआ ।
कैसी निरलस दृष्टि !
सजल शिशिर-धौत पुष्प ज्यों प्रात में
देखता है एकटक किरण-कुमारी को ।—
पृथ्वी का प्यार, सर्वस्व उपहार देता
नभ की निरुपमा को,
पलकों पर रख नयन
करता प्रणयन, शब्द—
भावों में विश्रृंखल बहता हुआ भी स्थिर ।
देकर न दिया ध्यान मैंने उस गीत पर
कुल-मान-ग्रन्थि में बँधकर चली गयी ;
जीते संस्कार वे बद्ध संसार के—
उनकी ही मैं हुई !
समझ नहीं सकी, हाय,
बँधा सत्य अञ्चल से
खुलकर कहाँ गिरा ।
बीता कुछ काल,
देह-ज्वाला बढ़ने लगी,
नन्दन-निकुञ्ज की रति को ज्यों मिला मरु,
उतरकर पर्वत से निर्झरी भूमि पर
पंकिल हुई सलिल-देह कलुषित हुई ।
करुणा की अनिमेष दृष्टि मेरी खुली,
किन्तु अरुणार्क, प्रिय, झुलसाते ही रहे—
भर नहीं सके प्राण रूप-विन्दु-दान से ।
तब तुम लघुपद-विहार
अनिल ज्यों बार-बार
वक्ष के सजे तार झंकृत करने लगे
साँसों से, भावों से, चिन्ता से कर प्रवेश ।

अपने उस गीत पर
सुखद मनोहर उस तान की माया में,
लहरों में हृदय की
भूल-सी मैं गयी
संसृति के दुःख-घात,
श्लथ-गात, तुममें ज्यों
रही मैं बद्ध हो।
किन्तु हाय,
रूढ़ि, धर्म के विचार,
कुल, मान, शील, ज्ञान,
उच्च प्राचीर ज्यों घेरे जो थे मुझे,
घेर लेते बार-बार,
जब मैं संसार में रखती थी पदमात्र,
छोड़ कल्प-निस्सीम पवन-विहार मुक्त।
दोनों हम भिन्न-वर्ण,
भिन्न-जाति, भिन्न-रूप,
भिन्न-धर्मभाव, पर
केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे।
किन्तु दिन-रात का,
जल और पृथ्वी का
भिन्न सौन्दर्य से बन्धन स्वर्गीय है
समझे यह नहीं लोग
व्यर्थ अभिमान के!
अन्धकार था हृदय
अपने ही भार से झुका हुआ, विपर्यस्त।
गृह-जन थे कर्म पर।
मधुर प्रभात ज्यों द्वार पर आये तुम,
नीड़-सुख छोड़कर मुक्त उड़ने को संग
किया आह्वान मुझे व्यंग के शब्द में।
आयी मैं द्वार पर सुन प्रिय कण्ठ-स्वर,
अश्रुत जो बजता रहा था झंकार भर
जीवन की वीणा में,
सुनती थी मैं जिसे।
पहचाना मैंने, हाथ बढ़कर तुमने गहा।
चल दी मैं मुक्त, साथ।
एक बार की ऋणी

उद्धार के लिए,
शत बार शोध की उर में प्रतिज्ञा की।
पूर्ण मैं कर चुकी।
गर्वित, गरीयसी अपने में आज मैं।
रूप के द्वार पर
मोह की माधुरी
कितने ही बार पी मूर्च्छित हुए हो, प्रिय,
जागती मैं रही,
गह बाँह, बाँह में भरकर सँभाला तुम्हें।

[रचनाकाल : 16 अक्तूबर, 1935। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1935, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

राम की शक्ति-पूजा

रवि हुआ अस्त : ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम - रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर वेग-प्रखर,
शतशेलसम्वरणशील, नीलनभ-गर्ज्जित-स्वर,
प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह —भेद - कौशल - समूह,—
राक्षस - विरुद्ध प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि - विषम-हूह,
विच्छुरितवह्नि-राजीवनयन - हत - लक्ष्य - बाण,
लोहितलोचन - रावण - मदमोचन - महीयान,
राघव - लाघव—रावण-वारण —गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत - लंकापति - मर्द्दित- कपि-दल-बल-विस्तर,
अनिमेष-राम—विश्वजिद्दिव्य - शर-भङ्ग - भाव,—
विद्धाङ्ग - बद्ध-कोदण्ड- मुष्टि —खर-रुधिर-स्राव,
रावण - प्रहार - दुर्वार - विकल - वानर दल-बल,—
मूर्च्छित-सुग्रीवाङ्गद - भीषण-गवाक्ष - गय - नल,
वारित-सौमित्र - भल्लपति—अगणित-मल्ल-रोध,
गर्ज्जित - प्रलयाब्धि-क्षुब्ध - हनुमत्-केवल-प्रबोध,
उद्गीरित - वह्नि - भीम - पर्वत-कपि-चतु: प्रहर,
जानकी-भीरु-उर—आशाभर—रावण - सम्वर।

लौटे युग - दल। राक्षस-पदतल पृथ्वी टलमल,
विंध महोल्लास से बार - बार आकाश विकल।
वानर-वाहिनी खिन्न, लख निज-पति-चरण-चिह्न
चल रही शिविर की ओर स्थविर-दल ज्यों विभिन्न;
प्रशमित है वातावरण; नमित-मुख सान्ध्य कमल
लक्ष्मण चिन्ता - पल, पीछे वानर - वीर सकल;
रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत - चरण,
श्लथ धनु - गुण है कटिबन्ध स्रस्त—तूणीर-धरण,
दृढ़ जटा - मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।

आये सब शिविर, सानु पर पर्वत के, मन्थर,
सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान आदिक वानर,
सेनापति दल - विशेष के, अङ्गद, हनूमान
नल, नील, गवाक्ष, प्रात के रण का समाधान
करने के लिए, फेर वानर - दल आश्रय-स्थल।
बैठे रघु-कुल-मणि श्वेत शिला पर; निर्मल जल
ले आये कर-पद-क्षालनार्थ पटु हनूमान;
अन्य वीर सर के गये तीर सन्ध्या - विधान—
वन्दना ईश की करने को, लौटे सत्वर,
सब घेर राम को बैठे आज्ञा को तत्पर।
पीछे लक्ष्मण, सामने विभीषण, भल्लधीर,
सुग्रीव, प्रान्त पर पाद - पद्म के महावीर;
यूथपति अन्य जो, यथास्थान, हो निर्निमेष
देखते राम का जित - सरोज - मुख - श्याम - देश।

है अमानिशा; उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल।
स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय,
रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय;
जो नहीं हुआ आज तक हृदय रिपु-दम्य—श्रान्त,—
एक भी, अयुत - लक्ष में रहा जो दुराक्रान्त,

कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार।
ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि, अच्युत
देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का—नयनों से गोपन—प्रिय सम्भाषण,
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन,
काँपते हुए किसलय,—झरते पराग—समुदय,
गाते खग-नव-जीवन-परिचय,—तरु मलय-वलय,
ज्योतिःप्रपात स्वर्गीय,—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।
सिहरा तन, क्षण-भर भूला मन, लहरा समस्त,
हर धनुर्भङ्ग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त,
फूटी स्मिति सीता-ध्यान-लीन राम के अधर,
फिर विश्व-विजय-भावना हृदय में आयी भर,
वे आये याद दिव्य शर अगणित मन्त्रपूत,—
फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत,
देखते राम, जल रहे शलभ ज्यों रजनीचर,
ताड़का, सुबाहु, विराध, शिरस्त्रय, दूषण, खर;
फिर देखी भीमा मूर्ति आज रण देखी जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को,
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ-बुझकर हुए क्षीण,
पा महानिलय उस तन में क्षण में हुए लीन,
लख शंकाकुल हो गये अतुल-बल शेष-शयन,—
खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन;
फिर सुना—हँस रहा अट्टहास रावण खलखल,
भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता-दल।

बैठे मारुति देखते राम-चरणारविन्द
युग 'अस्ति-नास्ति' के एक-रूप, गुण-गण-अनिन्द्य;
साधना-मध्य भी साम्य—वाम-कर दक्षिण-पद,
दक्षिण-कर-तल पर वाम चरण, कपिवर गद्गद
पा सत्य, सच्चिदानन्दरूप, विश्राम-धाम,
जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो राम-नाम।

युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु युगल,
देखा कपि ने, चमके नभ में ज्यों तारादल;
ये नहीं चरण राम के, बने श्यामा के शुभ,—
सोहते मध्य में हीरक युग या दो कौस्तुभ;
टूटा वह तार ध्यान का, स्थिर मन हुआ विकल,
सन्दिग्ध भाव की उठी दृष्टि, देखा अविकल
बैठे वे वही कमल-लोचन, पर सजल नयन,
व्याकुल-व्याकुल कुछ चिर-प्रफुल्ल मुख, निश्चेतन।
"ये अश्रु राम के" आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति - खेल - सागर अपार,
हो श्वसित पवन - उनचास, पिता-पक्ष से तुमुल,
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरङ्ग - भङ्ग उठते पहाड़,
जल राशि - राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़
तोड़ता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष
दिग्विजय - अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।
शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल में देश - भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
वज्राङ्ग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादशरुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।
रावण - महिमा श्यामा विभावरी - अन्धकार,
यह रुद्र राम - पूजन - प्रताप तेज:प्रसार;
उस ओर शक्ति शिव की जो दशस्कन्ध-पूजित,
इस ओर रुद्र - वन्दन जो रघुनन्दन - कूजित;
करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढ़ा अटल,
लख महानाश शिव अचल हुए क्षण-भर चञ्चल,
श्यामा के पदतल भारधरण हर मन्द्रस्वर
बोले—"सम्बरो देवि, निज तेज, नहीं वानर
यह,—नहीं हुआ शृंगार - युग्म - गत, महावीर,
अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय - शरीर,
चिर - ब्रह्मचर्य - रत, ये एकादश रुद्र धन्य,
मर्यादा - पुरुषोत्तम के सर्वोत्तम, अनन्य
लीलासहचर, दिव्यभावधर, इन पर प्रहार
करने पर होगी देवि, तुम्हारी विषम हार;
विद्या का ले आश्रय इस मन को दो प्रबोध,
झुक जायेगा कपि, निश्चय होगा दूर रोध।"

कह हुए मौन शिव; पवन - तनय में भर विस्मय
सहसा नभ में अञ्जना-रूप का हुआ उदय;
बोली माता—"तुमने रवि को जब लिया निगल
तब नहीं बोध था तुम्हें, रहे बालक केवल;
यह वही भाव कर रहा तुम्हें व्याकुल रह-रह,
यह लज्जा की है बात कि माँ रहती सह-सह;
यह महाकाश, है जहाँ वास शिव का निर्मल—
पूजते जिन्हें श्रीराम, उसे ग्रसने को चल
क्या नहीं कर रहे तुम अनर्थ ?—सोचो मन में;
क्या दी आज्ञा ऐसी कुछ श्रीरघुनन्दन ने ?
तुम सेवक हो, छोड़कर धर्म कर रहे कार्य—
क्या असम्भाव्य हो यह राघव के लिए धार्य ?"
कपि हुए नम्र, क्षण में माताछवि हुई लीन,
उतरे धीरे - धीरे, गह प्रभु - पद हुए दीन।

राम का विषण्णानन देखते हुए कुछ क्षण,
"हे सखा", विभीषण बोले, "आज प्रसन्न वदन
वह नहीं, देखकर जिसे समग्र वीर वानर—
भल्लूक विगत - श्रम हो पाते जीवन - निर्जर;
रघुवीर, तीर सब वही तूण में हैं रक्षित,
है वही वक्ष, रण-कुशल हस्त, बल वही अमित,
हैं वही सुमित्रानन्दन मेघनाद - जित-रण,
हैं वही भल्लपति, वानरेन्द्र सुग्रीव प्रमन,
तारा - कुमार भी वही महाबल श्वेत धीर,
अप्रतिभट वही एक—अर्बुद - सम, महावीर,
है वही दक्ष सेना - नायक, है वही समर,
फिर कैसे असमय हुआ उदय यह भाव-प्रहर ?
रघुकुल गौरव, लघु हुए जा रहे तुम इस क्षण,
तुम फेर रहे हो पीठ हो रहा जब जय रण !
कितना श्रम हुआ व्यर्थ ! आया जब मिलन-समय,
तुम खींच रहे हो हस्त जानकी से निर्दय !
रावण, रावण, लम्पट, खल, कल्मष-गताचार,
जिसने हित कहते किया मुझे पाद - प्रहार,
बैठा उपवन में देगा दुख सीता को फिर,—
कहता रण की जय - कथा पारिषद - दल से घिर;—

सुनता वसन्त में उपवन में कल-कूजित पिक
मैं बना किन्तु लंकापति, धिक्, राघव, धिक् धिक् !"

सब सभा रही निस्तब्ध : राम के स्तिमित नयन
छोड़ते हुए, शीतल प्रकाश देखते विमन,
जैसे ओजस्वी शब्दों का जो था प्रभाव
उससे न इन्हें कुछ चाव, न हो कोई दुराव;
ज्यों हों वे शब्द मात्र,—मैत्री की समनुरक्ति,
पर जहाँ गहन भाव के ग्रहण की नहीं शक्ति।
कुछ क्षण तक रहकर मौन सहज निज कोमल स्वर
बोले रघुमणि—"मित्रवर, विजय होगी न समर;
यह नहीं रहा नर-वानर का राक्षस से रण,
उतरीं पा महाशक्ति रावण से आमन्त्रण;
अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति !" कहते छल-छल
हो गये नयन, कुछ बूँद पुनः ढलके दृगजल,
रुक गया कण्ठ, चमका लक्ष्मण - तेजः प्रचण्ड,
धँस गया धरा में कपि गह युग पद मसक दण्ड,
स्थिर जाम्बवान,—समझते हुए ज्यों सकल भाव,
व्याकुल सुग्रीव,—हुआ उर में ज्यों विषम घाव,
निश्चित-सा करते हुए विभीषण कार्य - क्रम,
मौन में रहा यों स्पन्दित वातावरण विषम।

निज सहज रूप में संयत हो जानकी - प्राण
बोले—"आया न समझ में यह दैवी विधान;
रावण, अधर्मरत भी, अपना, मैं हुआ अपर—
यह रहा शक्ति का खेल समर, शङ्कर, शङ्कर !
करता मैं योजित बार-बार शर-निकर निशित
हो सकती जिनसे यह संसृति सम्पूर्ण विजित,
जो तेजःपुञ्ज, सृष्टि की रक्षा का विचार
है जिनमें निहित पतनघातक संस्कृति अपार—
शत-शुद्धि-बोध —सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक,
जिनमें है क्षात्रधर्म का धृत पूर्णाभिषेक,
जो हुए प्रजापतियों से संयम से रक्षित,
वे शर हो गये आज रण में श्रीहत, खण्डित !
देखा, हैं महाशक्ति रावण को लिये अङ्क,
लाञ्छन को ले जैसे शशाङ्क नभ में अशङ्क;

हत मन्त्रपूत शर संवृत करतीं बार-बार,
निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पर वार!
विचलित लख कपिदल, क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों-ज्यों,
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों,
पश्चात्, देखने लगीं मुझे, बँध गये हस्त,
फिर खिंचा न धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं हुआ त्रस्त!"
कह हुए भानुकुलभूषण वहाँ मौन क्षण-भर,
बोले विश्वस्त कण्ठ से जाम्बवान—"रघुवर,
विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरुष-सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर;
रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त
तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त,
शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनन्दन!
तब तक लक्ष्मण हैं महावाहिनी के नायक
मध्य भाग में, अङ्गद दक्षिण-श्वेत सहायक,
मैं भल्ल-सैन्य; हैं वाम पार्श्व में हनूमान,
नल, नील और छोटे कपिगण—उनके प्रधान;
सुग्रीव, विभीषण, अन्य यूथपति यथासमय
आयेंगे रक्षाहेतु जहाँ भी होगा भय।"

खिल गयी सभा। "उत्तम निश्चय यह, भल्लनाथ!"
कह दिया वृद्ध को मान राम ने झुका माथ।
हो गये ध्यान में लीन पुनः करते विचार,
देखते सकल—तन पुलकित होता बार-बार।
कुछ समय अनन्तर इन्दीवर निन्दित लोचन
खुल गये, रहा निष्पलक भाव में मज्जित मन।
बोले आवेग-रहित स्वर से विश्वास-स्थित—
"मातः, दशभुजा, विश्व-ज्योतिः, मैं हूँ आश्रित;
हो विद्ध शक्ति से है खल महिषासुर मर्दित,
जनरञ्जन-चरण-कमल-तल, धन्य सिंह गर्जित!
यह, यह मेरा प्रतीक, मातः, समझा इङ्गित;
मैं सिंह, इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित।"

कुछ समय स्तब्ध हो रहे राम छवि में निमग्न,
फिर खोले पलक कमल-ज्योतिर्दल ध्यान-लग्न;
हैं देख रहे मन्त्री, सेनापति, वीरासन
बैठे उमड़ते हुए, राघव का स्मित आनन।
बोले भावस्थ चन्द्र-मुख-निन्दित रामचन्द्र,
प्राणों में पावन कम्पन भर, स्वर मेघमन्द्र—
"देखो, बन्धुवर सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी, मकरन्द - विन्दु;
गरजता चरण - प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;
दशदिक - समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महाभाव - मंगल पदतल धँस रहा गर्व—
मानव के मन का असुर मन्द, हो रहा खर्व"
फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए—
बोले प्रियतर स्वर से अन्तर सींचते हुए
"चाहिये हमें एक सौ आठ, कपि, इन्दीवर,
कम-से-कम अधिक और हों, अधिक और सुन्दर,
जाओ देवीदह, उषःकाल होते सत्वर,
तोड़ो, लाओ वे कमल, लौटकर लड़ो समर।"
अवगत हो जाम्बवान से पथ, दूरत्व, स्थान,
प्रभु - पद - रज सिर धर चले हर्ष भर हनूमान।
राघव ने विदा किया सबको जानकर समय,
सब चले सदय राम की सोचते हुए विजय।

निशि हुई विगत : नभ के ललाट पर प्रथम किरण
फूटी, रघुनन्दन के दृग महिमा - ज्योति-हिरण;
है नहीं शरासन आज हस्त—तूणीर स्कन्ध,
वह नहीं सोहता निविड़-जटा दृढ़ मुकुट-बन्ध;
सुन पड़ता सिंहनाद,—रण-कोलाहल अपार,
उमड़ता नहीं मन, स्तब्ध सुधी हैं ध्यान धार;
पूजोपरान्त जपते दुर्गा, दशभुजा नाम,
मन करते हुए मनन नामों के गुणग्राम;
बीता वह दिवस, हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण,
गहन - से - गहनतर होने लगा समाराधन।

क्रम - क्रम से हुए पार राघव के पञ्च दिवस,
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस;
कर - जप पूरा कर एक चढ़ाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।
चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित मन,
प्रति जप से खिंच - खिंच होने लगा महाकर्षण;
सञ्चित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर,
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर-थर अम्बर;
दो दिन - निष्पन्द एक आसन पर रहे राम,
अर्पित करते इन्दीवर, जपते हुए नाम;
आठवाँ दिवस, मन ध्यान - युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा - हरि - शंकर का स्तर,
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध,
हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध,
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता - पार
प्रायः करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार,
द्विप्रहर रात्रि, साकार हुईं दुर्गा छिपकर,
हँस उठा ले गयीं पूजा का प्रिय इन्दीवर।
यह अन्तिम जप, ध्यान में देखते चरण युगल
राम ने बढ़ाया कर लेने को नील कमल;
कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चञ्चल
ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल,
देखा, वह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय
आसन छोड़ना असिद्धि, भर गये नयनद्वय:—
"धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन, जिसके लिए सदा ही किया शोध !
जानकी ! हाय, उद्धार प्रिया का न हो सका।"
वह एक और मन रहा राम का जो न थका;
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा, विद्युत् - गति हतचेतन
राम में जगी स्मृति, हुए सजग पा भाव प्रमन।
"यह है उपाय" कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन—
"कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन !
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।"

कहकर देखा तूणीर ब्रह्मशर रहा झलक,
ले लिया हस्त, लक-लक करता वह महाफलक;
ले अस्त्र वाम कर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन
ले अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन।
जिस क्षण बँध गया बेधने को दृग दृढ़ निश्चय,
काँपा ब्रह्माण्ड, हुआ देवी का त्वरित उदय :—

"साधु, साधु, साधक धीर, धर्म-धन धन्य राम!"
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।
देखा राम ने—सामने श्री दुर्गा, भास्वर
वाम पद असुर-स्कन्ध पर, रहा दक्षिण हरि पर;
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध अस्त्र-सज्जित,
मन्द स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित,
हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बाँयें रण-रङ्ग राग,
मस्तक पर शंकर। पदपद्मों पर श्रद्धाभर
श्री राघव हुए प्रणत मन्दस्वर वन्दन कर।
"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!"
कह महाशक्ति राम के वदन में हुईं लीन।

[रचनाकाल : 23 अक्तूबर, 1936। 'भारत', दैनिक, इलाहाबाद, 26 अक्तूबर, 1936, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति

वीक्षण अराल :—
बज रहे जहाँ
जीवन का स्वर भर छन्द ताल
मौन में मन्द्र;
ये दीपक जिसके सूर्य-चन्द्र,
बँध रहा जहाँ दिग्देशकाल
सम्राट्! उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियंगु की डाल-डाल
विंशति शताब्दि,

धन के, मान के बाँध को जर्जर कर महाब्धि
ज्ञान का, बहा जो भर गर्जन—
साहित्यिक स्वर—
"जो करे गन्ध - मधु का वर्जन
वह नहीं भ्रमर;
मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न;
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर।"
था सुना, रहे सम्राट् ! अमर—
मानव के वर !
वैभव विशाल,
साम्राज्य सप्त-सागर-तरंग-दल-दत्त-माल,
है सूर्य क्षत्र
मस्तक पर सदा विराजित
ले कर आतपत्र,
विच्छुरित छटा—
जल, स्थल, नभ में
विजयिनी - वाहिनी—विपुल घटा,
क्षण-क्षण भर पर
बदलती इन्द्रधनु इस दिशि से
उस दिशि सत्वर;
वह महासद्म
लक्ष्मी का शत - मणि - लाल - जटिल
ज्यों रक्त पद्म,
बैठे उस पर,
नरेन्द्र - वन्दित ज्यों देवेश्वर।
पर रह न सके,
हे मुक्त,
बन्ध का सुखद भार भी सह न सके।
उर की पुकार
जो नव संस्कृति की सुनी
विशद, मार्जित, उदार,

था मिला दिया उससे पहले ही
अपना उर,
इसलिए खिंचे फिर नहीं कभी
पाया निज पुर
जन - जन के जीवन में सहास,
है नहीं जहाँ वैशिष्ट्य - धर्म का
भ्रू-विलास—
भेदों का क्रम,
मानव को जहाँ पड़ा—
चढ़ जहाँ बड़ा सम्भ्रम।
सिंहासन तज उतरे भू पर,
सम्राट्! दिखाया
सत्य कौन-सा वह सुन्दर?
जो प्रिया, प्रिया वह
रही सदा ही अनामिका,
तुम नहीं मिले—
तुमसे हैं मिले हुए नव
योरप-अमेरिका।
सौरभ प्रमुक्त!
प्रेयसी के हृदय से हो तुम
प्रतिदेशयुक्त,
प्रतिजन, प्रतिमन,
आलिंगित तुमसे हुई
सभ्यता यह नूतन!

[रचनाकाल: 12 दिसम्बर, 1936। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, जनवरी, 1937, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका में** संकलित]

कविता के प्रति

ऐ, कहो,
मौन मत रहो!
सेवक इतने कवि हैं—इतना उपचार—
लिये हुए हैं दैनिक सेवा का भार;

धूप, दीप, चन्दन, जल;
गन्ध-सुमन दूर्वादल,
राग-भोग, पाठ-विमल मन्त्र,
पटु-करतल-गत मृदङ्ग,
चपल नृत्य, विविध भङ्ग,
वीणा-वादित सुरङ्ग तन्त्र।

गूँज रहा मन्दिर-मन्दिर का दृढ़ द्वार,
वहाँ सर्व-विषय-हीन दीन नमस्कार
दिया भू-पतित हो जिसने क्या वह भी कवि ?
सत्य कहो, सत्य कहो, बहु जीवन की छवि !
पहनाये ज्योतिर्मय, जलधि-जलद-भास
अथवा हिल्लोल-हरित-प्रकृति-परित वास।
मुक्ता के हार हृदय,
कर्ण कीर्ण हीरक-द्वय,
हाथ हस्ति-दन्त-वलय मणिमय,
चरण स्वर्ण-नूपुर कल,
जपालक्त श्रीपदतल,
आसन शत-श्वेतोत्पलसञ्चय।

धन्य धन्य कहते हैं जग-जन मन हार,
वहाँ एक दीन-हृदय ने दुर्वह भार—
'मेरे कुछ भी नहीं'—कह जो अर्पित किया;
कहो, विश्ववन्दिते, उसने भी कुछ दिया ?
कितने वन-उपवन-उद्यान कुसुम-कलि-सजे
निरुपमिते, सहज-भार-चरण-चार से लजे;
गयीं चन्द्र-सूर्य-लोक,
ग्रह-ग्रह-प्रति गति अरोक,
नयनों के नवालोक से खिले
चित्रित बहु धवल धाम
अलका के-से विराम,
सिहरे ज्यों चरण वाम जब मिले।
हुए कृती कविताव्रत राजकविसमूह,
किन्तु जहाँ पथ-बीहड़ कण्टक-गढ़-व्यूह,
कवि कुरूप, बुला रहा वन्यहार थाम
कहो, वहाँ भी जाने को होते प्राण ?

कितने वे भाव रसस्राव पुराने-नये
संसृति की सीमा के अपर पार जो गये,
गढ़ा इन्हीं से यह तन,
दिया इन्हीं से जीवन,
देखे हैं स्फुरित नयन इन्हीं से,
कवियों ने परम कान्ति,
दी जग को चरम शान्ति,
की अपनी दूर भ्रान्ति इन्हीं से।
होगा इन भावों से हुआ तुम्हारा जीवन,
कमी नहीं रही कहीं कोई—कहते सब जन,
किन्तु वहीं जिसके आँसू निकले—हृदय हिला,—
कुछ न बना, कहो, कहो, उससे क्या भाव मिला ?

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1937। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, मार्च, 1938, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

तोड़ती पत्थर

वह तोड़ती पत्थर;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।

कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन प्रिय, कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार :—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

चढ़ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू,

रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगीं छा गयीं,
प्रायः हुई दुपहर :—
वह तोड़ती पत्थर।

देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोयी नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार
एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
'मैं तोड़ती पत्थर।'

[रचनाकाल : 4 अप्रैल, 1937। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, मई, 1937, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

आवेदन

फिर सँवार सितार लो!
बाँधकर फिर ठाट, अपने
अंक पर झंकार दो!

शब्द के कलि-दल खुलें,
गति-पवन भर काँप थर-थर
मींड़ - भ्रमरावलि ढुलें,
गीत परिमल बहे निर्मल,
फिर बहार, बहार हो!

स्वप्न ज्यों सज जाय
यह तरी, यह सरित, यह तट
यह गगन, समुदाय
कमल वलयित-सरल-दृग-जल
हार का उपहार हो !

[रचनाकाल : 10 अप्रैल, 1937। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, जून, 1937, में प्रकाशित ('गीत' शीर्षक से)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

विनय

पथ पर मेरा जीवन भर दो,
बादल हे, अनन्त अम्बर के !
बरस सलिल, गति ऊर्मिल कर दो !
तट हों विटप छाँह के, निर्जन,
सस्मित - कलिदल-चुम्बित-जलकण,
शीतल शीतल बहे समीरण,
कूजें द्रुम - विहंगगण, वर दो !
दूर ग्राम की कोई वामा
आये मन्द चरण अभिरामा,
उतरे जल में अवसन श्यामा,
अंकित उर छबि सुन्दरतर हो !

[रचनाकाल : 3 जुलाई, 1937। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

उत्साह

बादल, गरजो !
घेर घेर घोर गगन, धाराधर ओ !
ललित ललित, काले घुँघराले,
बाल कल्पना के - से पाले,
विद्युत-छबि उर में, कवि, नवजीवन वाले !
वज्र छिपा, नूतन कविता

फिर भर दो।
बादल, गरजो !
विकल विकल, उन्मन थे उन्मन
विश्व के निदाघ के सकल जन,
आये अज्ञात दिशा से अनन्त के घन !
तप्त धरा, जल से फिर
शीतल कर दो :—
बादल, गरजो !

[रचनाकाल : 6 जुलाई, 1937। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1937, में प्रकाशित ('गीत' शीर्षक से)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

वन-बेला

वर्ष का प्रथम
पृथ्वी के उठे उरोज मञ्जु पर्वत निरुपम
किसलयों बँधे,
पिक-भ्रमर-गुञ्ज भर मुखर प्राण रच रहे सधे
प्रणय के गान,
सुनकर रहसा,
प्रखर से प्रखरतर हुआ तपन-यौवन सहसा;
ऊर्जित, भास्वर
पुलकित शत शत व्याकुल कर भर
चूमता रसा को बार बार चुम्बित दिनकर
क्षोभ से, लोभ से, ममता से,
उत्कण्ठा से, प्रणय के नयन की समता से,
सर्वस्व दान
देकर, लेकर सर्वस्व प्रिया का सुकृत मान।
दाब में ग्रीष्म,

भीष्म से भीष्म बढ़ रहा ताप,
प्रस्वेद कम्प
ज्यों ज्यों युग उर पर और चाप—
और सुख-झम्प;

निश्वास सघन
पृथ्वी की—बहती लू : निर्जीवन
जड़ - चेतन।

यह सान्ध्य समय,
प्रलय का दृश्य भरता अम्बर,
पीताभ, अग्निमय, ज्यों दुर्जय,
निर्धूम, निरभ्र, दिगन्त - प्रसर,
कर भस्मीभूत समस्त विश्व को एक शेष,
उड़ रही धूल, नीचे अदृश्य हो रहा देश।
मैं मन्द - गमन,
घर्माक्त, विरक्त, पार्श्व-दर्शन से खींच नयन,
चल रहा नदी तट को करता मन में विचार—
'हो गया व्यर्थ जीवन,
मैं रण में गया हार!

सोचा न कभी—
अपने भविष्य की रचना पर चल रहे सभी!'
—इस तरह बहुत कुछ।
आया निज इच्छित स्थल पर
बैठा एकान्त देखकर
मर्माहत स्वर भर!
फिर लगा सोचने यथासूत्र—'मैं भी होता
यदि राजपुत्र—मैं क्यों न सदा कलंक ढोता,
ये होते—जितने विद्याधर—मेरे अनुचर,
मेरे प्रसाद के लिए विनत - सिर उद्यत - कर;
मैं देता कुछ, रख अधिक, किन्तु जितने पेपर,
सम्मिलित कण्ठ से गाते मेरी कीर्ति अमर,
जीवन - चरित्र
लिख अग्रलेख अथवा, छापते विशाल चित्र।
इतना भी नहीं, लक्षपति का भी यदि कुमार
होता मैं, शिक्षा पाता अरब - समुद्र - पार,
देश की नीति के मेरे पिता परम पण्डित
एकाधिकार रखते भी धन पर, अविचल-चित
होते उग्रतर साम्यवादी, करते प्रचार,
चुनती जनता राष्ट्रपति उन्हें ही सुनिर्धार,

पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रचकर उन पर
कुछ लोग बेचते गा - गा गर्दभ - मर्दन - स्वर,
हिन्दी - सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
रखता कि अटल साहित्य कहीं यह हो डगमग,
मैं पाता खबर तार से त्वरित समुद्र - पार
लार्ड के लाड़लों को देता दावत—विहार;
इस तरह खर्च केवल सहस्र षट मास मास
पूरा कर आता लौट योग्य निज पिता पास
वायुयान से, भारत पर रखता चरण - कमल,
पत्रों के प्रतिनिधि - दल में मच जाती हलचल,
दौड़ते सभी, केमरा हाथ कहते सत्वर
निज अभिप्राय, मैं सभ्य मान जाता झुककर,
होता फिर खड़ा इधर को मुखकर कभी उधर,
बीसियों भाव की दृष्टि सतत नीचे ऊपर;
फिर देता दृढ़ सन्देश देश को मर्मान्तिक,
भाषा के बिना न रहती अन्य गन्ध प्रान्तिक,
जितने रूस के भाव, मैं कह जाता अस्थिर,
समझते विचक्षण ही जब वे छपते फिर - फिर,
फिर पिता संग
जनता की सेवा का व्रत मैं लेता अभङ्ग,
करता प्रचार
मञ्च पर खड़ा हो, साम्यवाद इतना उदार !

तप तप मस्तक
हो गया, सान्ध्य नभ का रक्ताभ दिगन्त - फलक;
खोलीं आँखें आतुरता से, देखा, अमन्द
प्रेयसी के अलक से आती ज्यों स्निग्ध गन्ध,
'आया हूँ मैं तो यहाँ अकेला, रहा बैठ',
सोचा सत्वर,
देखा फिरकर, घिरकर हँसती उपवन - बेला
जीवन में भर :—
यह ताप, त्रास
मस्तक पर लेकर उठी अतल की अतुल साँस,
ज्यों सिद्धि परम
भेदकर कर्म - जीवन के दुस्तर क्लेश, सुषम

आयी ऊपर,
जैसे पारकर क्षार सागर
अप्सरा सुघर
सिक्त - तन - केश शत लहरों पर
काँपती विश्व के चकित दृश्य के दर्शन - शर।

बोला मैं—'बेला, नहीं ध्यान
लोगों का जहाँ, खिली हो बनकर वन्य गान!
जब ताप प्रखर,
लघु प्याले में अतल की सुशीतलता ज्यों भर
तुम करा रही हो यह सुगन्ध की सुरा पान!'

लाज से नम्र हो, उठा, चला मैं और पास
सहसा बह चली सान्ध्य बेला की सुवातास,
झुक-झुक, तन-तन, फिर झूम-झूम, हँस-हँस, झकोर,
चिरपरिचित चितवन डाल, सहज मुखड़ा मरोर,
भर मुहुर्मुहुर् तन - गन्ध निकल बोली बेला—
'मैं देती हूँ सर्वस्व, छुओ मत, अवहेला
की अपनी स्थिति की जो तुमने, अपवित्र स्पर्श
हो गया तुम्हारा, रुको, दूर से करो दर्श।'

मैं रुका वहीं;
वह शिखा नवल
आलोक स्निग्ध भर दिखा गयी पथ जो उज्ज्वल।
मैंने स्तुति की—'हे वन्य वह्नि की तन्वि नवल!
कविता में कहाँ खुले ऐसे दल दुग्ध धवल?—
यह अपल स्नेह,—
विश्व के प्रणयि-प्रणयिनियों-कर
हार - उर गेह?—
गति सहज मन्द
यह कहाँ—कहाँ वामालक चुम्बित पुलक-गन्ध?'

'केवल आपा खोया, खेला
इस जीवन में',
कह सिहरी तन में वन-बेला।
'कू—ऊ कू—ऊ' बोली कोयल अन्तिम सुख-स्वर,
'पी कहाँ' पपीहा-प्रिया मधुर विष गयी छहर

उर, बढ़ा आयु
पल्लव-पल्लव को हिला हरित बह गयी वायु,
लहरों में कम्प और लेकर उत्सुक सरिता
तैरी, देखतीं तमश्चरिता
छबि बेला की नभ की ताराएँ निरुपमिता,
शत-नयन-दृष्टि
विस्मय में भरकर रही विविध-आलोक-सृष्टि।

भाव में हरा मैं, देख मन्द हँस दी बेला,
बोली अस्फुट स्वर से,—"यह जीवन का मेला।
चमकता सुघर बाहरी वस्तुओं को लेकर,
त्यों-त्यों आत्मा की निधि पावन बनती पत्थर।
बिकती जो कौड़ी मोल
यहाँ होगी कोई इस निर्जन में,
खोजो, यदि हो समतोल
वहाँ कोई, विश्व के नगर-धन में।
है वहाँ मान,
इसलिए बड़ा है एक, शेष छोटे अजान;
पर ज्ञान जहाँ,
देखना—बड़े छोटे; असमान, समान वहाँ :—
सब सुहृद्वर्ग
उनकी आँखों की आभा से दिग्देश स्वर्ग।"

बोला मैं—'यही सत्य, सुन्दर !
नाचतीं वृन्त पर तुम, ऊपर
होता जब उपल-प्रहार प्रखर !
अपनी कविता
तुम रहो एक मेरे उर में
अपनी छबि में शुचि सञ्चरिता।'

फिर उषःकाल
मैं गया टहलता हुआ, बेल की झुका डाल
तोड़ता फूल कोई ब्राह्मण;
"जाती हूँ मैं," बोली बेला,
"जीवन प्रिय के चरणों पर करने को अर्पण":—

देखती रही;
निस्वन, प्रभात की वायु बही।

[रचनाकाल : 11 जुलाई, 1937। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1937, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र

मैं जीर्ण - साज बहु छिद्र आज,
तुम सुदल सुरङ्ग सुवास सुमन
मैं हूँ केवल पदतल - आसन,
तुम सहज विराजे महाराज।

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही बसन्त का अग्रदूत,
ब्राह्मण - समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि।

तुम मध्य भाग के, महाभाग! —
तरु के उर के गौरव प्रशस्त।
मैं पढ़ा जा चुका पत्र, न्यस्त
तुम अलि के नव रस - रङ्गराग।

देखो, पर, क्या पाते तुम "फल"
देगा जो भिन्न स्वाद रस भर,
कर पार तुम्हारा भी अन्तर
निकलेगा जो तरु का सम्बल।

फल सर्वश्रेष्ठ नायाब चीज
या तुम बाँधकर रँगा धागा,
फल के भी उर का कटु त्यागा;
मेरा आलोचक एक बीज।

[रचनाकाल : 6 अगस्त, 1937। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1937, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

उक्ति

कुछ न हुआ, न हो।
मुझे विश्व का सुख, श्री, यदि केवल
पास तुम रहो!

मेरे नभ के बादल यदि न कटे—
चन्द्र रह गया ढका,
तिमिर रात को तिरकर यदि न अटे
लेश गगन-भास का,
रहेंगे अधर हँसते, पथ पर, तुम
हाथ यदि गहो।

बहु-रस साहित्य विपुल यदि न पढ़ा—
मन्द सबों ने कहा,
मेरा काव्यानुमान यदि न बढ़ा—
ज्ञान, जहाँ का रहा,
रहे, समझ है मुझमें पूरी, तुम
कथा यदि कहो।

[रचनाकाल : 7 अगस्त, 1937। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, नवम्बर, 1937, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

ठूँठ

ठूँठ यह है आज!
गयी इसकी कला,
गया है सकल साज!
अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित, झुकता नहीं अब यह धनुष-सा,
कुसुम से काम के चलते नहीं हैं तीर,
छाँह में बैठते नहीं पथिक आह भर,
झरते नहीं यहाँ दो प्रणयियों के नयन-तीर।
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद!

[रचनाकाल : 11 सितम्बर, 1937। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

सेवा-प्रारम्भ

(यह एक कथा है, उस समय की, जब इस देश में देश के ही लोगों या संस्था द्वारा किसी प्रकार की सेवा प्रचलित न हुई थी। यह कार्य श्रीरामकृष्ण मिशन शुरू करता है। यह कथा जिस घटना के आधार पर है, वह बंगाल में घटी थी। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य स्वामी विवेकानन्दजी के गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्दजी इस घटना के चरितनायक हैं। ये उस समय वहाँ भ्रमण कर रहे थे। यह सेवा इन्होंने की थी। इसके बाद संघबद्ध रूप से श्रीरामकृष्ण मिशन लोक-सेवा करता है। इसके बाद देश में अन्यान्य सेवादल संगठित होते हैं। स्वामी अखण्डानन्दजी की इस सेवा के समय स्वामी विवेकानन्दजी थे। स्वामी अखण्डानन्दजी ने ही स्वामी विवेकानन्दजी को पीड़ितजन-नारायणों की सेवा के लिए प्रवृत्त किया था। बाद को स्वामी अखण्डानन्दजी श्रीरामकृष्णमिशन के प्रेसीडेण्ट हुए थे—तीसरे। अब इनका देहावसान हो गया है।)

अल्प दिन हुए,
भक्तों ने रामकृष्ण के चरण छुए।
जगी साधना
जन-जन में भारत की नवाराधना।
नयी भारती
जागी जन-जन को कर नयी आरती।
घेर गगन को अगणन
जागे रे चन्द्र-तपन—
पृथ्वी-ग्रह-तारागण ध्यानाकर्षण,
हरित-कृष्ण-नील-पीत
रक्त-शुभ्रज्योति-नीत
नव-नव विश्वोपवीत, नव-नव साधन।

खुले नयन नवल रे—
ऋतु के-से भिन्न सुमन
करते ज्यों विश्व-स्तवन
आमोदित किये पवन भिन्न गन्ध से।
अपर ओर करता विज्ञान घोर नाद
दुर्धर शत-रथ-घर्घर विश्व-विजय-वाद।

स्थल-जल है समाच्छन्न
विपुल-मार्ग-जाल-जन्य,
तार-तार समुत्सन्न देश-महादेश,
निर्मित शत लौहयन्त्र
भीमकाय मृत्युतन्त्र
चूस रहे अन्त्र, मन्त्र रहा यही शेष।
बढ़े समर के प्रहरण,
नये-नये हैं प्रकरण,
छाया उन्माद मरण-कोलाहल का,
दर्प जहर, जर्जर नर,
स्वार्थपूर्ण गूँजा स्वर,
रहा है विरोध घहर इस-उस दल का।
बँधा व्योम, बढ़ी चाह,
बहा प्रखरतर प्रवाह,
वैज्ञानिक समुत्साह आगे,
सोये सौ-सौ विचार
थपकी दे बार-बार
मौलिक मन को सुधार जागे!
मैक्सिम-गन् करने को जीवन-सँहार
हुआ जहाँ, खुला वहीं नोब्ल-पुरस्कार!
राजनीति नागिनी
डँसती है, हुई सभ्यता अभागिनी।
जितने ये यहाँ नवयुवक—
ज्योति के तिलक
खड़े सहोत्साह,
एक-एक लिये हुए प्रलयानल-दाह।
श्री 'विवेक', ब्रह्म', 'प्रेम', 'शारदा',*
ज्ञान-योग-भक्ति-कर्म-धर्म-नर्मदा,—
बहीं विविध आध्यात्मिक धाराएँ
तोड़ गहन प्रस्तर की काराएँ
क्षिति को कर जाने को पार,
पाने को अखिल विश्व का समस्त सार।
गृही भी मिले,
आध्यात्मिक जीवन के रूप यों खिले।

* स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी शारदानन्द।

अन्य घोर भीषण रव-यान्त्रिक झंकार—
विद्या का दम्भ,
यहाँ महामौनभरा स्तब्ध निराकार—
नैसर्गिक रङ्ग।
बहुत काल बाद
अमेरिका-धर्म महासभा का निनाद
विश्व ने सुना, काँपी संसृति की थी दरी,
गरजा भारत का वेदान्त-केसरी।
श्रीमत्स्वामी विवेकानन्द
भारत के मुक्त-ज्ञानछन्द
बँधे भारती के जीवन से
गान गहन एक ज्यों गगन से,
आये भारत, नूतन शक्ति ले जगी
जाति यह रँगी।
स्वामी श्रीमदखण्डानन्दजी
एक और प्रति उस महिमा की,
करते भिक्षा फिर निस्सम्बल
भगवा-कौपीन-कमण्डलु-केवल;
फिरते थे मार्ग पर
जैसे जीवित विमुक्त ब्रह्म-शर।
इसी समय भक्त रामकृष्ण के
एक जमींदार महाशय दिखे।
एक-दूसरे को पहचान कर
प्रेम से मिले अपना अति प्रिय जन जानकर।
जमींदार अपने घर ले गये,
बोले—"कितने दयालु रामकृष्ण देव थे!
आप लोग धन्य हैं,
उनके जो ऐसे अपने, अनन्य हैं।"—
द्रवित हुए। स्वामीजी ने कहा,—
"नवद्वीप जाने की है इच्छा,—
महाप्रभु श्रीमच्चैतन्यदेव का स्थल
देखूँ, पर सम्यक् निस्सम्बल
हूँ इस समय, जाता है पास तक जहाज,
सुना है कि छूटेगा आज।"
धूप चढ़ रही थी, बाहर को,
जमींदार ने देखा, घर को

फिर घड़ी, हुए उन्मन
अपने आफिस का कर चिन्तन;
उठे, गये भीतर,
बड़ी देर बाद आये बाहर,
दिया एक रुपया, फिर फिरकर
चले गये आफिस को सत्वर।

स्वामीजी घाट पर गये,
"कल जहाज छूटेगा" सुनकर
फिर रुक नहीं सके,
जहाँ तक करें पैदल पार—
गंगा के तीर से चले।
चढ़े दूसरे दिन स्टीमर पर
लम्बा रास्ता पैदल तै कर।
आया स्टीमर, उतरे प्रान्त पर, चले
देखा, हैं दृश्य और ही बदले,—
दुबले-दुबले जितने लोग,
लगा देश-भर को ज्यों रोग,
दौड़ते हुए दिन में स्यार
बस्ती में—बैठे भी गीध महाकार,
आती बदबू रह-रह,
हवा बह रही व्याकुल कह-कह;
कहीं नहीं पहले की चहल-पहल,
कठिन हुआ यह, जो था बहुत सहल।
सोचते व देखते हुए
स्वामीजी चले जा रहे थे।

इस समय एक मुसलमान-बालिका
भरे हुए पानी मृदु आती थी पथ पर, अम्बुपालिका;
घड़ा गिरा, फूटा,
देख बालिका का दिल टूटा,
होश उड़ गये
काँपी वह सोच के,
रोयी चिल्लाकर,
फिर ढाढ़ मार-मारकर
जैसे माँ-बाप मरे हों घर।

सुनकर स्वामीजी का हृदय हिला,
पूछा—"कह, बेटी कह, क्या हुआ ?"
फफक-फफककर
कहा बालिका ने,—"मेरे घर
एक यही बचा था घड़ा,
मारेगी माँ सुनकर फूटा।"
रोयी फिर
वह विभूति कोई !
स्वामीजी ने देखीं आँखें—
गीली वे पाँखें,
करुण स्वर सुना,
उमड़ी स्वामीजी में करुणा।
बोले—"तुम चलो
घड़े की दूकान जहाँ हो,
नया एक ले दें;"
खिलीं बालिका की आँखें।
आगे-आगे चली
बड़ी राह होती बाजार की गली,
आ कुम्हार के यहाँ ?
खड़ी हो गयी घड़े दिखा।
एक देखकर
पुख्ता सबमें विशेखकर,
स्वामीजी ने उसे दिला दिया,
खुश होकर हुई वह बिदा।
मिले रास्ते में लड़के
भूखों मरते।
बोली वह देख के,—"एक महाराज
आये हैं आज,
पीले-पीले कपड़े पहने,
होंगे उस घड़े की दूकान पर खड़े,
इतना अच्छा घड़ा
मुझे ले दिया !
जाओ, पकड़ो उन्हें, जाओ,
ले देंगे खाने को, खाओ।"
दौड़े लड़के,
तब तक स्वामीजी थे बातें करते,

कहता दूकानदार उनसे,—"हे महाराज,
ईश्वर की गाज
यहाँ है गिरी, है बिपत बड़ी,
पड़ा है अकाल,
लोग पेट भरते हैं खा-खाकर पेड़ों की छाल।
कोई देता नहीं सहारा,
रहता हर एक यहाँ न्यारा,
मदद नहीं करती सरकार,
क्या कहूँ, ईश्वर ने ही दी है मार
तो कौन खड़ा हो ?"

इसी समय आये वे लड़के,
स्वामीजी के पैरों आ पड़े।
पेट दिखा, मुँह को ले हाथ,
करुणा की चितवन से, साथ
बोले,—"खाने को दो,
राजों के महाराज तुम हो।"
चार आने पैसे
स्वामीजी के तब तक थे बचे।
चूड़ा दिलवा दिया,
खुश होकर लड़कों ने खाया, पानी पिया
हँसा एक लड़का, फिर बोला—
"यहाँ एक बुढ़िया भी है, बाबा,
पड़ी झोंपड़ी में मरती है, तुम देख लो
उसे भी, चलो।"
कितना यह आकर्षण,
स्वामीजी के उठे चरण।
लड़के आगे हुए;
स्वामी पीछे चले।
खुश हो नायक ने आवाज दी,
"बुढ़िया री, आये हैं बाबाजी।"
बुढ़िया मर रही थी
गन्दे में फर्श पर पड़ी।
आँखों में ही कहा
जैसा कुछ उस पर बीता था।

स्वामीजी पैठ
सेवा करने लगे,
साफ की वह जगह,
दवा और पथ फिर देने लगे
मिलकर अफसरों से
भीख माँग बड़े-बड़े घरों से।
लिखा मिशन को भी
दृश्य और भाव दिखा जो भी।

खड़ी हुई बुढ़िया सेवा से,
एक रोज बोली,—"तुम मेरे बेटे थे उस जन्म के।"
स्वामीजी ने कहा,—
"अबके की भी हो तुम मेरी माँ।"

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1937। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

मरण-दृश्य

कहा जो न, कहो!
नित्य-नूतन, प्राण, अपने
गान रच - रच दो!

विश्व सीमाहीन;
बाँधती जातीं मुझे कर-कर
व्यथा से दीन!
कह रही हो—"दुःख की विधि—
यह तुम्हें ला दी नयी निधि,
विहग के वे पंख बदले,—
किया जल का मीन;
मुक्त अम्बर गया अब हो
जलधि जीवन को!"

सकल साभिप्राय;
समझ पाया था नहीं मैं,
थी तभी यह हाय!

दिये थे जो स्नेह-चुम्बन,
आज प्याले गरल के घन;
कह रही हो हँस—"पियो, प्रिय,
पियो, प्रिय, निरुपाय !
मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में
आयी हुई, न डरो !"

[रचनाकाल : 5 जनवरी, 1938। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1938, में प्रकाशित ('गीत' शीर्षक से)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

मुक्ति

तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की, निकलो फिर,
गङ्गा - जल - धारा !
गृह - गृह की पार्वती !
पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
उर-उर की बनो आरती !—
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुवतारा।
तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा !

[रचनाकाल : 6 जनवरी, 1938। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

खुला आसमान

बहुत दिनों बाद खुला आसमान।
निकली है धूप, हुआ खुश जहान।

दिखीं दिशाएँ, झलके पेड़,
चरने को चले ढोर—गाय-भैंस-भेड़,
खेलने लगे लड़के छेड़-छेड़—
लड़कियाँ घरों को कर भासमान।

लोग गाँव - गाँव को चले,
कोई बाजार, कोई बरगद के पेड़ के तले
जाँघिया - लँगोटा ले सँभले,
तगड़े - तगड़े सीधे नौजवान।

पनघट में बड़ी भीड़ हो रही,
नहीं ख्याल आज कि भीगेगी चूनरी,
बातें करती हैं वे सब खड़ी,
चलते हैं नयनों के सधे बान।

[रचनाकाल : 6 जनवरी, 1938। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

प्राप्ति

तुम्हें खोजता था मैं,
पा नहीं सका,
हवा बन बहीं तुम, जब
मैं थका, रुका।
मुझे भर लिया तुमने गोद में,
कितने चुम्बन दिये,
मेरे मानव - मनोविनोद में
नैसर्गिकता लिये;
सूखे श्रम - सीकर वे
छवि के निर्झर झरे नयनों से,
शक्त शिराएँ हुईं रक्त - वाह ले,
मिलीं—तुम मिलीं, अन्तर कह उठा,
जब थका, रुका।

[रचनाकाल : 1 फरवरी, 1938। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

अपराजिता

हारीं नहीं, देख, आँखें—
परी - नागरी की :
नभ कर गयीं पार पाँखें—
परी - नागरी की।
तिल नीलिमा को रहे स्नेह से भर
जगकर नयी ज्योति उतरी धरा पर,
रँग से भरी हैं, हरी हो उठीं हर
तरु की तरुण - तान शाखें :
परी - नागरी की—
हारीं नहीं, देख, आँखें।

[रचनाकाल : 2 फरवरी, 1938। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1938, में प्रकाशित ('होली' शीर्षक से)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

वसन्त की परी के प्रति

आओ, आओ फिर, मेरे वसन्त की परी—
छबि-विभावरी;
सिहरो, स्वर से भर-भर, अम्बर की सुन्दरी—
छबि-विभावरी!

बहे फिर चपल ध्वनि - कलकल तरङ्ग,
तरल मुक्त नव - नव छल के प्रसङ्ग,
पूरित - परिमल निर्मल सजल - अङ्ग,
शीतल - सुख मेरे तट की निस्तल निर्झरी—
छबि-विभावरी!

निर्जन ज्योत्स्नाचुम्बित वन सघन,
सहज समीरण, कली निरावरण
आलिङ्गन दे उभार दे मन,
तिरे नृत्य करती मेरी छोटी - सी तरी—
छबि-विभावरी!

आयी है फिर मेरी 'बेला' की यह वेला,
'जुही की कली' की प्रियतम से परिणय-हेला,
तुमसे मेरी निर्जन बातें - सुमिलन मेला,
कितने भावों में हर जब हो मन पर विहरी—
छबि-विभावरी।

[रचनाकाल : 26 फरवरी, 1938। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

वे किसान की नयी बहू की आँखें

नहीं जानतीं जो अपने को खिली हुई
विश्व - विभव से मिली हुई,
नहीं जानतीं सम्राज्ञी अपने को,
नहीं कर सकीं सत्य कभी सपने को,
वे किसान की नयी बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें।

वे केवल निर्जन के दिशाकाश की,
प्रियतम के प्राणों के पास - हास की,
भीरु पकड़ जाने को हैं दुनिया के कर से
बढ़े क्यों न वह पुलकित हो कैसे भी वर से।

[रचनाकाल : 1 मार्च, 1938। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

नर्गिस

[1]

बीत चका शीत, दिन वैभव का दीर्घतर
डूब चुका पश्चिम में, तारक - प्रदीप - कर
स्निग्ध-शान्त-दृष्टि सन्ध्या चली गयी मन्द-मन्द
प्रिय की समाधि - ओर, हो गया है रव बन्द

विहगों का नीड़ों पर, केवल गंगा का स्वर
सत्य ज्यों शाश्वत सुन पड़ता है स्पष्टतर,
बहता है साथ गत गौरव का दीर्घ काल
प्रहर - तरंग - कर - ललित - तरल - ताल।

चैत्र का है कृष्ण पक्ष, चन्द्र तृतीया का आज
उग आया गगन में, ज्योत्स्ना तनु - शुभ्र - साज
नन्दन की अप्सरा धरा को विनिर्जन जान
उतरी सभय करने को नैश गंगा - स्नान।
तट पर उपवन सुरम्य, मैं मौनमन
बैठा देखता हूँ तारतम्य विश्व का सघन;
जाह्नवी को घेरकर आप उठे ज्यों करार
त्यों ही नभ और पृथ्वी लिये ज्योत्स्ना ज्योतिर्धार,
सूक्ष्मतम होता हुआ जैसे तत्व ऊपर को
गया, श्रेष्ठ मान लिया लोगों ने महाम्बर को,
स्वर्ग त्यों धरा से श्रेष्ठ, बड़ी देह से कल्पना,
श्रेष्ठ सृष्टि स्वर्ग की है खड़ी सशरीर ज्योत्स्ना।

[2]

युवती धरा का यह था भरा वसन्त - काल,
हरे - भरे स्तनों पर पड़ी, कलियों की माल,
सौरभ से दिक्कुमारियों का मन सींचकर
बहता है पवन प्रसन्न तन खींचकर।
पृथ्वी स्वर्ग से ज्यों कर रही है होड़ निष्काम
मैंने फेर मुख देखा, खिली हुई अभिराम
नर्गिस, प्रणय के ज्यों नयन हों एकटक
प्रिय - भाव - भरे देखते हुए रहे हों थक,
मुख पर लिखी अविश्वास की रेखाएँ पढ़
स्नेह के निगड़ में ज्यों बँधे भी रहे हैं कढ़।
कहती ज्यों नर्गिस—"आयी जो परी पृथ्वी पर
स्वर्ग की, इसी से हो गयी क्या सुन्दरतर?
पार कर अन्धकार आयी जो आकाश पर,
सत्य कहो, मित्र, नहीं सकी स्वर्ग प्राप्त कर?
कौन अधिक सुन्दर है—देह अथवा आँखें
चाहते भी जिसे तुम—पक्षी वह या कि पाँखें?

स्वर्ग झुक आये यदि धरा पर तो सुन्दर
या कि यदि धरा चढ़े स्वर्ग पर तो सुघर" ?

बही हवा नर्गिस की, मन्द छा गयी सुगन्ध,
धन्य, 'स्वर्ग यही', कह किये मैंने दृग बन्द।

[रचनाकाल : 2 मई, 1938। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

नासमझी

समझ नहीं सके तुम,
हारे हुए झुके तभी नयन तुम्हारे, प्रिय।
भरा उल्लास था हृदय मेरे जब,—
काँपा था वक्ष,
तब देखी थी तुमने
मेरे मल्लिका के हार की
कम्पन, सौन्दर्य को !

[रचनाकाल : 15 मई, 1938। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1938, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

उक्ति

जला है जीवन यह
आतप में दीर्घकाल;
सूखी भूमि, सूखे तरु,
सूखे सिक्त आलबाल;
बन्द हुआ गुञ्ज, धूल-
धूसर हो गये कुञ्ज,
किन्तु पड़ी व्योम-उर
बन्धु, नील मेघ-माल।

[रचनाकाल : 16 मई, 1938। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1938, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

सहज

सहज-सहज पग धर आओ उतर;
देखें वे सभी तुम्हें पथ पर।

वह जो सिर बोझ लिये आ रहा,
वह जो बछड़े को नहला रहा,
वह जो इस - उससे बतला रहा,
देखूं, वे तुम्हें देख जाते भी हैं ठहर ?

उनके दिल की धड़कन से मिली
होगी तस्वीर जो कहीं खिली,
देखूं मैं भी, वह कुछ भी हिली
तुम्हें देखने पर, भीतर - भीतर ?

[रचनाकाल : 12 अगस्त, 1938। 'रूपाभ', मासिक, कालाकाँकर, सितम्बर, 1938, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

और और छबि

और और छबि रे यह !
नूतन भी कवि, रे यह
और और छबि !

समझ तो सही
जब भी यह नहीं गगन
वह मही नहीं,
बादल वह नहीं जहाँ
छिपा हुआ पवि, रे यह
और और छबि !

यज्ञ है यहाँ,
जैसे देखा पहले होता अथवा सुना;

किन्तु नहीं पहल की,
यहाँ कहीं हवि, रे यह
और और छबि !

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1938। 'रूपाभ', मासिक, कालाकाँकर, सितम्बर, 1938, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

मेरी छबि ला दो

मेरी छबि उर - उर में ला दो !
मेरे नयनों से ये सपने समझा दो !

जिस स्वर - से भरे नवल नीरद,
हुए प्राण पावन गा हुआ हृदय भी गद्गद,
जिस स्वर - वर्षा ने भर दिये सरित्-सर-सागर,
मेरी यह धरा धन्य हुई, भरा नीलाम्बर,
वह स्वर शर्मद उनके कण्ठों में गा दो !

जिस गति से नयन - नयन मिलते,
खिलते हैं हृदय, कमल के दल-के-दल हिलते,
जिस गति की सहज सुमति जगा जन्म-मृत्यु-विरति
लाती है जीवन से जीवन की परमारति,
चरण - नयन - हृदय - वचन को तुम सिखला दो !

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1938। 'वीणा', मासिक, इन्दौर, फरवरी, 1940, में प्रकाशित। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

वारिद-वन्दना

मेरे जीवन में हँस दीं हर
वारिद - झर !

ऐ आकुल - नयने !
सुरभि, मुकुल - शयने !
जागीं जल-श्यामल पल्लव पर
छवि विश्व की सुघर !

पवन - परस सिहरीं,
मुक्त - गन्ध विहरीं,
लहरीं उर से उर दे सुन्दर
तनु आलिंगन कर !

अपनापन भूला,
प्राण - शयन झूला,
बैठीं तुम, चितवन से सञ्चर
छाये घन अम्बर !

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1938। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

गीत

जैसे हम हैं वैसे ही रहें,
लिये हाथ एक दूसरे का
अतिशय सुख के सागर में बहें।

मुदें पलक, केवल देखें उर में,—
सुनें सब कथा परिमल-सुर में,
जो चाहें, कहें वे, कहें।

वहाँ एक दृष्टि से अशेष प्रणय
देख रहा है जग को निर्भय,
दोनों उसकी दृढ़ लहरें सहें।

[रचनाकाल : 13 सितम्बर, 1938। बिना शीर्षक के द्वितीय **अनामिका** के प्रारम्भ में निराला की हस्तलिपि में मुद्रित]

गर्वोक्ति

हारता है मेरा मन विश्व के समर में जब
कलरव से मौन ज्यों,
शान्ति के लिए त्यों ही
हार बन रही हूँ प्रिय, गले की तुम्हारी मैं,
निभृत की, गन्ध की, तृप्ति की, निशा की।
जानती हूँ, तुममें ही
शेष है दान मेरा—मेरा अस्तित्व सब;
दूसरा प्रभात जब फैलेगा विश्व में
कुछ न रह जायगा मुझमें तब देने को;
किन्तु आजीवन तुम एक तत्त्व समझोगे—
और क्या विश्व में अधिकतर शोभन है,
अधिक प्राणों के पास, अधिक आनन्दमय,
अधिक कहने के लिए, प्रगति की सार्थकता।

[रचनाकाल : 14 सितम्बर, 1938। **आराधना** में संकलित]

परिशिष्ट

मौलिक कविताएँ

रक्षा-बन्धन (1)

परिमलयुत मृदु मन्द मलय वह गुंजत छन छन मत्त मधुप गन,
उठत बीन झंकार चतुर्दिसि चढ़्यौ मदन जनु करन कतहुँ रन।
घन-पिय-अधरन चूम चाँदनी, अलस चुवत तन सुधा-स्वेद-कन,
प्रकृति-पुरुष कर मिलन मनोहर अति सुखकर यह 'रक्षा-बन्धन'॥

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 26 अगस्त, 1923। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

कृष्ण-महातम !

गोरी बाँहन सों सदा, गोरी ब्रज-बनितान।
गले लगायो प्रेम से, श्याम कामतनु कान्ह॥
श्याम कामतनु कान्ह-रूप भौंरे में पायो।
खिली कमलिनी हरषि अंक भरि उर बैठायो॥
पै अब ऐसो हाल कि 'काले' हाथ पसारे॥
धेला-भर भी प्रेम लेत 'गोरन' सों हारे॥

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 1 सितम्बर, 1923। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

एक प्रशस्ति

नयनन उमड़ि आयो सिन्धु।
गगन जस-थल विमल-किरननि
धनि लख्यों नव इन्दु।।
बहि चलीं रसधार नव
मति - कुमुदिनी उघरी।
पाय कविता - दरस
परसत पग, परागन-भरी।।
दियो वर हँसि, बसि रही उर,
मधुर भो मो प्रान।
प्रात होइहि, करहु भारत-
भजन - गुन - गन गान।।
लख्यों नरपति - विश्वनाथहिं
द्वार स्मृति के खड़ो।
छत्रसाल - महीप - महिमा को
नवल रवि कढ़ो।

[सम्भावित रचनाकाल : जनवरी, 1928। असंकलित]

कालेज का बचुआ

जब से एफ. ए. फेल हुआ,
हमारा कालेज का बचुआ।

नाक दाबकर सम्पुट साधै,
महादेवजी को आराधै,
भंग छानकर रोज़ रात को
खाना मालपुआ।

वाल्मीकि को बाबा मानै,
नाना व्यासदेव को जानै,
चाचा महिषासुर को, दुर्गा
जी को सगी बुआ।

हिन्दी का लिक्खाड़ बड़ा वह,
जब देखो तब अड़ा पड़ा वह,
छायावाद रहस्यवाद के
भावों का बटुआ।

धीरे-धीरे रगड़-रगड़ कर
श्रीगणेश से झगड़-झगड़ कर,
नत्थाराम बन गया है अब
पहले का नथुआ।

हमारे कालेज का बचुआ।

[सम्भावित रचनाकाल : 1928-29 ई.। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

निरालाजी का उत्तर

लखनऊ,
6 जनवरी, 1931

बन्धु हे—

भालोबासी, भालो बासियाछो,
नूतन किछुइ करो नाई;
अमी मने मने जपियाछी,
द्वारे तुमी आसियाछो ताई।
सहियाछी आमी जतो व्यथा
तोमाय बासिते गिया भालो,
तोमार हृदये उठियाछे
तेतोई होइया ताहा कालो।
आमी करि नाई कृपणता
तोमाय करिते सब दान
जानियाछी यदि ओ जीवने
मोर चेये तुमीइ महान।
तोमार नयने राखी आँखी
जीवनेर सुधा करि पान,

छाड़ाये सकल दिक-सीमा,
तोमाते मिलाये जाके प्राण।
पथ जाहा जानी आमी, बोली,
आगुन द्विगुणा मने जालो;
जतोइ जलिबे देह-मान
ततोइ पाइबे तुमी आलो।
गहिया उठिबे तब प्राण
प्रभातेर आलोकेर गान,
सकलेर जीवनेर धारा
तोमाते लभिबे अवसान।

बन्धु,
आमी एइ भाषाय प्रथम कविता लिखिय छिलाम
ताइ इहातेइ तोमार अभिनन्दन करिलाम।

तोमार—सूर्यकान्त

[रचनाकाल : 6 जनवरी, 1931। 'हंस', मासिक, बनारस सिटी, जनवरी, 1931, में प्रकाशित। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

गीत

किहि तन पिय-मन धारों ?—री कहु
उठत न दृग लखि, पग डगमग, सखि,
किमि निज सुगति सँवारों ?—री कहु

कौन पौन में डसत विषयधर,
फैलति ज्वाल, होत तन जरजर,
सबद सुनत काँपत हिय थरथर,
किमि सर खर निरवारों ?—री कहु

['सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1935। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

दाल का गीत

[खास 'रूपाभ' के लिए प्रस्तुत]

तुम चुरी दालि महरानी !
हरदी परे ते जरदी आई,
निमक परे मुसुक्यानी,
भात - भतार ते भेंट भई,
तब प्रेम-सहित लिपट्यानी !

['चकल्लस', साप्ताहिक, लखनऊ, वर्ष 1, अंक 26 (जुलाई, 1938) । असंकलित]

अनूदित कविताएँ

तुम

दिया जीवन, तुम्हारा ही दिया यह दुःख दारुण दव,
दिया अन्तःकरण बैठे जहाँ करते तुम्हीं अनुभव।

तुम्हारे ही नयन ये हैं सलिल-सरिता बही जिनसे,
विकलता भी तुम्हारी है, तुम्हारा है करुण हा रव।

तुम्हारी दी हुई निधि वह, तुम्हारी ही ग्रहण-विधि वह,
तुम्हीं अनमन विजन वन में बहाते शान्ति शुचि सौरभ।

तुम्हारा मैं तुम्हारा तन, तुम्हारा ही विपुल धनजन,
समझकर भी न समझा मन, मिटाओ मोह-घन गौरव।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर चैत्र, संवत् 1980 वि. (मार्च-अप्रैल, 1923), (रजनी सेन के एक गीत का अनुवाद)। **अणिमा** में संकलित]

गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को

गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को;
भले और बुरे की,
लोकनिन्दा यश-कथा की
नहीं परवाह मुझे;
दास तुम दोनों का
सशक्तिक चरणों में प्रणाम है तुम्हारे देव !

पीछे खड़े रहते हो,
इसीलिए हास्य-मुख
देखता हूँ बार-बार मुड़-मुड़कर।

बार-बार गाता मैं
भय नहीं खाता कभी,
जन्म और मृत्यु मेरे पैर पर लोटते हैं।
दया के सागर हो तुम,
दास जन्म-जन्म का तुम्हारा मैं हूँ प्रभो।
क्या गति तुम्हारी, नहीं जानता,
अपनी गति, वह भी नहीं,
कौन चाहता भी है जानने को ?
भुक्ति-मुक्ति-भक्ति आदि जितने हैं —
जप-तप-साधन-भजन
आज्ञा से तुम्हारी मैंने दूर इन्हें कर दिया।
एकमात्र आशा पहचान की ही है लगी,
इससे भी करो पार !
देखते हैं नेत्र ये सारा संसार,
नहीं देखते हैं अपने को,
देखें भी क्यों, कहो,
देखते वे अपना रूप
देख दूसरे का मुख।

नेत्र मेरे तुम्हीं हो,
रूप तुम्हारा ही घट-घट में है विद्यमान।
बालकेलि करता हूँ तुम्हारे साथ,
क्रोध करके कभी,
तुमसे किनारा कर दूर चला जाता हूँ;
किन्तु निशाकाल में,
देखता हूँ,
शय्या-शिरोभाग में खड़े तुम चुपचाप,
छल-छल आँखें,
हेरते हो मेरे मुख की ओर एक-टक।
बदल जाता है भाव,
पैरों पड़ता हूँ।
किन्तु क्षमा नहीं माँगता,
नहीं करते हो रोष।
पुत्र हूँ तुम्हारा मैं,
ऐसी प्रगलभता
और कोई कैसे, कहो, सहन कर सकता है ?

तुम मेरे प्रभु हो,
प्राण-सखा मेरे तुम
कभी देखता हूँ—
"तुम मैं हो, मैं तुम बना
वाणी तुम, वीणापाणि मेरे कण्ठ में प्रभो,
ऊर्मि से तुम्हारी बह जाते हैं नर-नारी।"
सिन्धुनाद हुंकार,
सूर्य-चन्द्र में वचन,
मन्द-मन्द पवन तुम्हारा आलाप है;
सत्य है यह सब कथा,
किन्तु अति स्थूल भाव मानता तथापि मैं—
तत्त्ववेत्ता का प्रसंग यह है नहीं।
चन्द्र-सूर्य-ग्रह-तारा,
कोटि-मण्डली-निवास,
धूमकेतु, विद्युतप्रकाश आदि जो कुछ यह
अन्तहीन महाकाश देखता है मेरा मन,
काम, क्रोध, लोभ, मोह—
उठती जहाँ से है तरंगों की लीला लोल;
विद्या, अविद्या का स्थान
जन्म-जरा जीवन-मरण सुख-दुःख द्वन्द्व
केन्द्र जिसका अहम् है,
दोनों भुज—बहिरन्तर;
आसमुद्र-चन्द्रमा,
आतारक-सूर्याकाश,
मन-बुद्धि-चित्त, अहंकार, देव और यक्ष,
मानव-दानव-गण,
पशु-पक्षी-कृमि-कीट
अणुक-द्यणुक जड़-जीव आदि जितने हैं,
देखो, एक समक्षेत्र में हैं सब विद्यमान।

अति स्थूल—अति स्थूल बाह्य यह विकास है
केश जैसे सिर पर।
योजनों तक फैला हुआ
हिम से आच्छादित
मेरु-तट पर है महागिरि,
अभ्रभेदी बहु शृंग

अभ्रहीन नभ में उठे,
दृष्टि झुलसाती हुई हिम की शिलाएँ वे,
विद्युत-विकास से है शतगुण प्रखर ज्योति;
उत्तर अयन में उस
एकीभूत कर की सहस्र ज्योति-रेखाएँ
कोटि-वज्र-सम-खर-कर-धारा जब ढालती हैं,
एक-एक शृंग पर
मूच्छित हुए-से भुवन-भास्कर हैं दीखते,
गलता है हिम-शृंग
टपकता गुहा में,
घोर नाद करता हुआ
टूट पड़ता है गिरि,
स्वप्न-सम जल-बिम्ब जल में मिल जाता है।
मन की सब वृत्तियाँ एक ही हो जातीं जब
फैलता है कोटि-सूर्य-निन्दित सत्-चित्-प्रकाश,
गल जाते भानु, शशधर और तारादल,—
विश्व-व्योममण्डल-तलातल-पाताल भी,
ब्रह्माण्ड गोष्पद-समान जान पड़ता है
दूर जाता है जब मन बाह्यभूमि के,
होता है शान्त धातु,
निश्चल होता है सत्य,
तन्त्रियाँ हृदय की तब ढीली पड़ जाती हैं,
खुल जाते बन्धन-समूह, जाते माया-मोह,
गूँजता तुम्हारा अनाहत-नाद जो वहाँ,
सुनता है दास भक्तिपूर्वक नतमस्तक,
तत्पर सदा ही वह
पूर्ण करने को जो कुछ भी हो तुम्हारा कार्य।
"मैं ही तब विद्यमान,
प्रलय के समय में जब
ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता लय
होता है अगणन ब्रह्माण्ड ग्रास करके, यह
ध्वस्त होता संसार
पार कर जाता है तर्क की सीमा को,
नहीं रह जाता कुछ—सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह—
महानिर्वाण वह,
नहीं रहते जब कर्म, करण या कारण कुछ,

घोर अन्धकार होता अन्धकार-हृदय में,
मैं ही तब विद्यमान।"

"प्रलय के समय में जब
ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता-लय
होता है अगणन ब्रह्माण्ड ग्रास करके, यह
ध्वस्त होता संसार,
पार कर जाता है तर्क की सीमा को,
नहीं रह जाता कुछ—सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह—
घोर अन्धकार होता अन्धकार-हृदय में,
दूर होते तीनों गुण,
अथवा वे मिल करके शान्त भाव धरते जब
एकाकार होते सूक्ष्म शुद्ध-परमाणु-काय,
मैं ही तब विद्यमान।"

"विकसित फिर होता मैं,
मेरी ही शक्ति धरती पहले विकार-रूप,
आदि वाणी प्रणव ओंकार ही
बजता महाशून्य-पथ में,
अन्तहीन महाकाश सुनता महानन्द-ध्वनि,
कारण-मण्डली की निद्रा छूट जाती है,
अगणित परमाणुओं में प्राण समा जाते हैं,
नर्तनावर्तोच्छ्वास
बड़ी दूर—दूर से
चलते केन्द्र की तरफ,
चेतन पवन है उठाती ऊर्मिमालाएँ
महाभूत-सिन्धु पर,
परमाणुओं के आवर्त घन विकास और
रंग-भंग-पतन-उच्छ्वास-संग
बहती बड़े वेग से हैं वे तरंगराजियाँ,
जिससे अनन्त—वे अनन्त खण्ड उठे हुए
घात-प्रतिघातों से शून्य पथ में दौड़ते—
बन-बन ख-मण्डल हैं तारा-ग्रह घूमते,
घूमती यह पृथ्वी भी, मनुष्यों की वास-भूमि।

"मैं ही हूँ आदि कवि,
मेरी ही शक्ति के रचना-कौशल में हैं
जड़ और जीव सारे
मैं ही खेलता हूँ शक्ति-रूपा निज माया से।
एक, होता अनेक, मैं
देखने के लिए सब अपने स्वरूपों को।
मेरी ही आज्ञा से
बहती इस वेग से है झञ्झा इस पृथ्वी पर
गरज उठता है मेघ—
अशनि में नाद होता,
मन्द-मन्द बहती वायु
मेरे निश्वास के ग्रहण और त्याग से,
हिमकर सुख-हिमकर की धारा जब बहती है,
तरु औ' लताएँ हैं ढकती धरा की देह,
शिशिर से धुले फुल्ल मुख को उठाकर वे
तकते रह जाते हैं
भास्कर को सुमन-वृन्द।"

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौरमाघ, संवत् 1980 वि. (जनवरी-फरवरी, 1924), (विवेकानन्द की रचना 'गाइ गीत शुनाते तोमाय' का अनुवाद)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

तट पर

नव वसन्त करता था वन की सैर
जब किसी क्षीण-कटि तटिनी के तट
तरुणी ने रक्खे थे अपने पैर।
नहाने को सरि वह आयी थी,
साथ वसन्ती रँग की, चुनी हुई, साड़ी लायी थी।
काँप रही थी वायु, प्रीति की प्रथम रात की
नवागता, पर प्रियतम-कर-पतिता-सी
प्रेममयी, पर नीरव अपरिचिता-सी।
किरण-बालिकाएँ लहरों से
खेल रही थीं अपने ही मन से, पहरों से।

खड़ी दूर सारस की सुन्दर जोड़ी,
क्या जाने क्या-क्या कहकर दोनों ने ग्रीवा मोड़ी।
रक्खी साड़ी शिला-खण्ड पर
ज्यों त्यागा कोई गौरव-वर।
देख चतुर्दिक, सरिता में
उतरी तिर्यग्दृग, अविचल-चित।
नग्न बाहुओं से उछालती नीर,
तरंगों में डूबे दो कुमुदों पर
हँसता था एक कलाधर,*
ऋतुराज दूर से देख उसे होता था अधिक अधीर।
वियोग से नदी-हृदय कम्पित कर,
तट पर सजल-चरण-रेखाएँ निज अंकित कर,
केश-भार जल-सिक्त चली वह धीरे-धीरे
शिला-खण्ड की ओर,
नव-वसन्त काँपा पत्रों में,
देख दृगों की कोर,
अंग-अंग में नव-यौवन उच्छृंखल,
किन्तु बँधा लावण्य-पाश से
नम्र सहास अचंचल।
झुकी हुई कल कुञ्चित एक अलक ललाट पर,
बढ़ी हुई ज्यों प्रिया स्नेह की खड़ी बाट पर।
वायु सेविका-सी आकर
पोंछे युगल उरोज, बाहु, मधुराधर।
तरुणी ने सब ओर
देख, मन्द हँस, छिपा लिये उन्नत पीन उरोज,
उठाकर शुष्क वसन का छोर।
मूर्च्छित वसन्त पत्रों पर;
तरु से वृन्तच्युत कुछ फूल
गिरे उस तरुणी के चरणों पर।

* भाव है—[दिन में भी] दो कुमुदों (उरोजों) को देखकर चन्द्र (मुख) हँस रहा था।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 2 फरवरी, 1924 (रवीन्द्रनाथ की रचना 'विजयिनी' पर आधारित)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

समाधि

सूर्य भी नहीं है, ज्योति—सुन्दर शशांक नहीं,
छाया-सा व्योम में वह विश्व नजर आता है।
मनोआकाश अस्फुट, भासमान विश्व वहाँ
अहंकार-स्रोत ही में तिरता डूब जाता है।

धीरे-धीरे छायादल लय में समाया जब
धारा निज अहंकार मन्दगति बहाता है।
बन्द वह धारा हुई, शून्य में मिला है शून्य,
'अवाङ्मनसोगोचरम्' वह जाने जो ज्ञाता है।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर फाल्गुन, संवत् 1980 वि. (फरवरी-मार्च, 1924), (विवेकानन्द की रचना 'प्रलय वा गभीर समाधि' का अनुवाद)। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) के परिशिष्ट में संकलित]

नाचे उस पर श्यामा

फूले फूल सुरभि-व्याकुल अलि
गूँज रहे हैं चारों ओर
जगती-तल में सकल देवता
भरते शशि - मृदु - हँसी - हिलोर।
गन्ध-मन्द-गति मलय पवन है
खोल रही स्मृतियों के द्वार,
ललित - तरंग नदी - नद - सरसी,
चल-शतदल पर भ्रमर-विहार।
दूर गुहा में निर्झरिणी की
तान-तरंगों का गुञ्जार,
स्वरमय किसलय-निलय विहंगों
के बजते सुहाग के तार।
तरुण-चितेरा अरुण बढ़ा कर
स्वर्ण - तूलिका - कर सुकुमार
पट-पृथिवी पर रखता है जब,
कितने वर्णों का आभार,

धरा अधर धारण करते हैं,—
रँग के रागों के आकार
देख-देख भावुक-जन-मन में
जगते कितने भाव उदार !

गरज रहे हैं मेघ, अशनि का
गूँजा घोर निनाद - प्रमाद,
स्वर्ग - धरा - व्यापी संगर का
छाया विकट - कटक - उन्माद
अन्धकार उद्गीरण करता
अन्धकार घन - घोर अपार
महाप्रलय की वायु सुनाती
श्वासों में अगणित हुंकार
इस पर चमक रही है रक्तिम
विद्युज्ज्वाला वारम्वार
फेनिल लहरें गरज चाहतीं
करना गिरि - शिखरों को पार,
भीम-घोष-गम्भीर, अतल धँस
टलमल करती धरा अधीर,
अनल निकलता छेद भूमितल,
चूर हो रहे अचल - शरीर।

हैं सुहावने मन्दिर कितने
नील - सलिल - सर - वीचि-विलास—
वलयित कुवलय, खेल खिलाती
मलय वनज - वन - यौवन - हास।
बढ़ा रहा है अंगूरों का
हृदय - रुधिर प्याले का प्यार,
फेन - शुभ्र - सिर उठे बुलबुले
मन्द - मन्द करते गुञ्जार।
बजती है श्रुति - पथ में वीणा,
तारों की कोमल झंकार
ताल - ताल पर चली बढ़ाती
ललित वासना का संसार।

भावों में क्या जाने कितना
ब्रज का प्रकट प्रेम उच्छ्वास,
आँसू ढलते, विरह - ताप से
तप्त गोपिकाओं के श्वास;
नीरज - नील नयन, विम्बाधर
जिस युवती के अति सुकुमार,
उमड़ रहा जिसकी आँखों पर
मृदु भावों का पारावार,
बढ़ा हाथ दोनों मिलने को
चलतीं प्रकट प्रेम - अभिसार,
प्राण - पखेरू, प्रेम - पींजरा,
बन्द, बन्द है उसका द्वार!

भेरी झररर - झरर, दमामे,
घोर नकारों की है चोप,
कड़ - कड़ - कड़ सन् - सन् बन्दूकें,
अररर अररर अररर तोप,
धूम - धूम है भीम रणस्थल,
शत - शत ज्वालामुखियाँ घोर
आग उगलतीं, दहक - दहक दह
कँपा रहीं भू - नभ के छोर।
फटते, लगते हैं छाती पर
घाती गोले सौ - सौ बार,
उड़ जाते हैं कितने हाथी,
कितने घोड़े और सवार।
थर - थर पृथ्वी थर्राती है,
लाखों घोड़े कस तैयार
करते, चढ़ते, बढ़ते - अड़ते
झुक पड़ते हैं वीर जुझार।
भेद धूम - तल—अनल, प्रबल दल
चीर गोलियों की बौछार,
धँस गोलों - ओलों में लाते
छीन तोप कर बेड़ी मार;
आगे - आगे फहराती है
ध्वजा वीरता की पहचान,

झरती धारा—रुधिर दण्ड में
अड़े पड़े पर वीर जवान;
साथ - साथ पैदल - दल चलता,
रण - मद - मतवाले सब वीर,
छुटी पताका, गिरा वीर जब,
लेता पकड़ अपर रणधीर,
पटे खेत अगणित लाशों से
कटे हजारों वीर जवान,
डटे लाश पर पैर जमाये,
हटे न वीर छोड़ मैदान।

देह चाहता है सुख - संगम,
चित्त - विहंगम स्वर - मधु - धार,
हँसी - हिंडोला झूल चाहता
मन जाना दुख - सागर - पार!
हिम-शशांक का किरण-अंग-सुख
कहो, कौन जो देगा छोड़—
तपन - तप्त मध्याह्न - प्रखरता
से नाता जो लेगा जोड़?
चण्ड दिवाकर ही तो भरता
शशधर में कर - कोमल - प्राण,
किन्तु कलाधर को ही देता
सारा विश्व प्रेम - सम्मान!
सुख के हेतु सभी हैं पागल,
दुख से किस पामर का प्यार?
सुख में है दुख, गरल अमृत में,
देखो, बता रहा संसार।
सुख - दुख का यह निरा हलाहल
भरा कण्ठ तक सदा अधीर,
रोते मानव, पर आशा का
नहीं छोड़ते चञ्चल चीर!
रुद्र रूप से सब डरते हैं,
देख - देख भरते हैं आह,
मृत्युरूपिणी मुक्तकुन्तला
माँ की नहीं किसी को चाह!

उष्णधार उद्गार रुधिर का
करती है जो वारम्वार,
भीम भुजा की, बीन छीनती,
वह जंगी नंगी तलवार।
मृत्यु स्वरूपे माँ, है तू ही
सत्य - स्वरूपा, सत्याधार;
काली, सुखवनमाली तेरी
माया छाया का संसार!

अये—कालिके, माँ करालिके,
शीघ्र मर्म का कर उच्छेद,
इस शरीर का प्रेम - भाव, यह
सुख सपना, माया, कर भेद!
तुझे मुण्डमाला पहनाते,
फिर भय खाते तकते लोग,
'दयामयी' कह कह चिल्लाते,
माँ, दुनिया का देखा ढोंग!
प्राण काँपते अट्टहास सुन
दिगम्बरा का लख उल्लास,
अरे भयातुर 'असुर-विजयिनी'
कह रह जाता, खाता त्रास!
मुँह से कहता है,—देखेगा
पर माँ, जब आता है काल,
कहाँ भाग जाता भय खाकर
तेरा देख वदन विकराल!
माँ, तू मृत्यु घूमती रहती,
उत्कट व्याधि, रोग बलवान्,
भर विष - घड़े, पिलाती है तू
घूँट जहर के लेती प्राण।
रे उन्माद! भुलाता है तू
अपने को, न फिराता दृष्टि
पीछे भय से, कहीं देख तू
भीमा महाप्रलय की सृष्टि।
दुख चाहता, बता, इसमें क्या
भरी नहीं है सुख की प्यास?

तेरी भक्ति और पूजा में
चलती स्वार्थ - सिद्धि की साँस।
छाग - कण्ठ की रुधिर धार से
सहम रहा तू, भय - सञ्चार!
अरे कापुरुष, बना दया का
तू आधार! —धन्य व्यवहार!

फोड़ो वीणा, प्रेम - सुधा का
पीना छोड़ो, तोड़ो, वीर,
दृढ़ आकर्षण है जिसमें उस
नारी - माया की जञ्जीर।
बढ़ जाओ तुम जलधि - ऊर्मि - से
गरज गरज गाओ निज गान;
आँसू पीकर जीना, जाये
देह, हथेली पर लो जान।
जागो वीर! सदा ही सिर पर
काट रहा है चक्कर काल,
छोड़ो अपने सपने, भय क्यों,
काटो, काटो यह भ्रम जाल।
दुःख - भार इस भव के ईश्वर,
जिनके मन्दिर का दृढ़ द्वार!
जलती हुई चिताओं में है
प्रेत - पिशाचों का आगार;
सदा घोर संग्राम छेड़ना
उनकी पूजा के उपचार,
वीर! डराये कभी न, आये
अगर पराजय सौ - सौ बार।
चूर - चूर हो स्वार्थ, साध, सब
मान, हृदय हो महाश्मशान,
नाचे उस पर श्यामा, घन रण
में लेकर निज भीम कृपाण।

[अनुवाद-काल : 13 अप्रैल, 1924। 'समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर आषाढ़, संवत् 1981 वि. (जून-जुलाई, 1924), में प्रकाशित (विवेकानन्द की रचना 'नाचुक ताहाते श्यामा' का अनुवाद)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

ज्येष्ठ

[1]

ज्येष्ठ ! क्रूरता-कर्कशता के ज्येष्ठ ! सृष्टि के आदि !
वर्ष के उज्ज्वल प्रथम प्रकाश।
अन्त ! सृष्टि के जीवन के हे अन्त ! विश्व के व्याधि !
चराचर के हे निर्दय त्रास !
सृष्टि-भर के व्याकुल आह्वान !—अचल विश्वास !
सृष्टि-भर के शंकित अवसान !—दीर्घ निश्वास !
देते हैं हम तुम्हें प्रेम-आमन्त्रण,
आओ जीवन-शमन, बन्धु, जीवन-घन !

[2]

घोर-जटा-पिंगल मंगलमय देव ! योगि-जन-सिद्ध !
धूलि - धूसरित, सदा निष्काम !
उग्र ! लपट यह लू की है या शूल—करोगे बिद्ध
उसे जो करता हो आराम !
बताओ, यह भी कोई रीति ? छोड़ घर - द्वार,
जगाते हो लोगों में भीति,—तीव्र संस्कार !—
या निष्ठुर पीड़न से तुम नव जीवन
भर देते हो, बरसाते हैं तब घन !

[3]

तेजःपुञ्ज ! तपस्या की यह ज्योति—प्रलय साकार;
उगलते आग धरा - आकाश;
पड़ा चिता पर जलता मृत गत वर्ष प्रसिद्ध असार,
प्रकृति होती है देख निराश !
सुरधुनी में रोदन - ध्वनि दीन,—विकल उच्छ्वास,
दिग्वधू की पिक - वाणी क्षीण—दिगन्त उदास;
देखा जहाँ वहीं है ज्योति तुम्हारी,
सिद्ध ! काँपती है यह माया सारी।

[4]

शाम हो गयी, फैलाओ वह पीत गेरुआ वस्त्र,
रजोगुण का वह अनुपम राग,
कर्मयोग की विमल पताका और मोह का अस्त्र,
सत्य जीवन के फल का—त्याग।

मृत्यु में तृष्णा में अभिराम एक उपदेश,
कर्ममय, जटिल, तृप्त, निष्काम; देव, निश्शेष !
तुम हो वज्र-कठोर किन्तु देवव्रत,
होता है संसार अतः मस्तक-नत।

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 19 अप्रैल, 1924 (रवीन्द्रनाथ की रचना 'वैशाख' पर आधारित)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

कहाँ देश है

[1]

'अभी और है कितनी दूर तुम्हारा प्यारा देश ?'—
कभी पूछता हूँ तो तुम हँसती हो
प्रिय, सँभालती हुई कपोलों पर के कुञ्चित केश !
मुझे चढ़ाया बाँह पकड़ अपनी सुन्दर नौका पर,
फिर समझ न पाया, मधुर सुनाया कैसा वह संगीत
सहज-कमनीय-कण्ठ से गाकर !
मिलन-मुखर उस सोने के संगीत-राज्य में
मैं विहार करता था,
मेरा जीवन-श्रम हरता था;
मीठी थपकी क्षुब्ध हृदय में तान-तरंग लगाती
मुझे गोद पर ललित कल्पना की वह कभी सुलाती;
कभी जगाती;
जगकर पूछा, 'कहो कहाँ मैं आया ?'
हँसते हुए दूसरा ही गाना तब तुमने गाया !
भला बताओ, क्यों केवल हँसती हो ?—
क्यों गाती हो ?
धीरे-धीरे किस विदेश की ओर लिये जाती हो ?

[2]

झाँका खिड़की खोल तुम्हारी छोटी-सी नौका पर
व्याकुल थीं निस्सीम सिन्धु की ताल तरङ्गें
गीत तुम्हारा सुनकर;

विकल हृदय यह हुआ और जब पूछा मैंने
पकड़ तुम्हारे स्रस्त वस्त्र का छोर,
मौन इशारा किया उठाकर उँगली तुमने
धँसते पश्चिम सान्ध्य गगन में पीत तपन की ओर।

क्या वही तुम्हारा देश
ऊर्मि-मुखर इस सागर के उस पार—
कनक-किरण से छाया अस्ताचल का पश्चिम द्वार ?
बताओ—वही ?—जहाँ सागर के उस श्मशान में
आदिकाल से लेकर प्रतिदिवसावसान में
जलती प्रखर दिवाकर की वह एक चिता है,
और उधर फिर क्या है ?

झुलसाता जल तरल अनल,
गलकर गिरता-सा अम्बरतल,
है प्लावित कर जग को असीम रोदन लहराता;
खड़ी दिग्वधू, नयनों में दुख की है गाथा;
प्रबल वायु भरती है एक अधीर श्वास,
है करता अनय प्रलय का-सा भर जलोच्छ्वास,
यह चारों ओर घोर संशयमय क्या होता है ?
क्यों सारा संसार आज इतना रोता है ?
जहाँ हो गया इस रोदन का शेष,
क्यों सखि, क्या है वहीं तुम्हारा देश ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 3 मई, 1924 ('क्यों हँसती हो ? कहाँ देश है ?' शीर्षक से) (रवीन्द्रनाथ की रचना 'निरुद्देश्य यात्रा' का अनुवाद)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

क्षमा प्रार्थना

आज बह गयी मेरी वह व्याकुल संगीत-हिलोर
किस दिगन्त की ओर ?
शिथिल हो गयी वेणी मेरी,
शिथिल आज की ग्रन्थि,
शिथिल है आज बाहु-दृढ़-बन्धन,
शिथिल हो गया है वह मेरा चुम्बन !
शिथिल सुमन-सा पड़ा सेज पर अञ्चल,
शिथिल हो गयी है वह चितवन चञ्चल !

शिथिल आज है कल का कूजन—
पिक की पञ्चम तान,
शिथिल आज वह मेरा आदर—
मेरा वह अभिमान !

यौवन-वन-अभिसार-निशा का यह कैसा अवसान ?
सुख-दुख की धाराओं में कल
बहने की थी अटल प्रतिज्ञा—
कितना दृढ़ विश्वास,
और आज कितनी दुर्बल हूँ—
लेती ठण्ढी साँस !

प्रिय अभिनव !
मेरे अन्तर के मृदु अनुभव !
इतना तो कह दो—
मिटी तुम्हारे इस जीवन की प्यास ?
और हाँ, यह भी, जीवन-नाथ !—
मेरी रजनी थी यदि तुमको प्यारी,
तो प्यारा क्या होगा यह अलस प्रभात ?
वर्षा, शरत्, वसन्त, शिशिर, ऋतु शीत,
पार किये तुमने सुन-सुनकर मेरे जो संगीत,
घोर ग्रीष्म में वैसा ही मन
लगा, सुनोगे क्या मेरे वे गीत—
कहो, जीवन-धन !

माला में ही सूख गये जो फूल
क्या न पड़ेगी उन पर, प्रियतम,
एक दृष्टि अनुकूल !

ताक रहे हो दृष्टि,
जाँच रहे हो या मन ?—
क्षमा कर रहे हो अथवा तुम देव,
अपने जन के स्खलन और सब पतन ?

बाँधे थे तुमने जिस स्वर में तार,
उतर गये उससे ये बारम्बार !
दुर्बल मेरे प्राण
कहो भला फिर
कैसे गाते रचे तुम्हारे गान ?

['मतवाला', साप्ताहिक, कलकत्ता, 17 मई, 1924। 'महाकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भावों से' इस सूचना के साथ द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

सखा के प्रति

रोग स्वास्थ्य में, सुख में दुख, है अन्धकार में जहाँ प्रकाश,
शिशु के प्राणों का साक्षी है रोदन जहाँ वहाँ क्या आश
सुख की करते हो तुम, मतिमन् ?—छिड़ा हुआ है रण अविराम
घोर द्वन्द्व का; यहाँ पुत्र को पिता भी नहीं देता स्थान।

गूँज रहा रव घोर स्वार्थ का, यहाँ शान्ति का मुक्ताकार
कहाँ ? नरक प्रत्यक्ष स्वर्ग है; कौन छोड़ सकता संसार ?
कर्म-पाश से बँधा गला, वह क्रीतदास जाये किस ठौर ?
सोचा समझा है मैंने, पर एक उपाय न देखा और।

योग-भोग जप-तप, धन-सञ्चय, गार्हस्थ्याश्रम, दृढ़ संन्यास,
त्याग - तपस्या - व्रत सब देखा, पाया है जो मर्माभास
मैंने, समझा, कहीं नहीं सुख, है यह तनु - धारण ही व्यर्थ,
उतना ही दुख है जितना ही ऊँचा है तव हृदय समर्थ।

हे सहृदय, निस्वार्थ प्रेम के ! नहीं तुम्हारा जग में स्थान,
लौह - पिण्ड जो चोटें सहता, मर्मर के अति - कोमल प्राण
उन चोटों को सह सकते क्या ? होओ जड़वत् नीचाधार,
मधु - मुख, गरल - हृदय, निजता - रत, मिथ्या पर, देगा संसार

जगह तुम्हें तब। विद्यार्जन के लिए प्राण-पण से अतिपात
अर्द्ध आयु का किया, फिरा फिर पागल - सा फैलाये हाथ
प्राण - रहित छाया के पीछे लुब्ध प्रेम का, विविध निषेध—
विधियाँ की हैं धर्म - प्राप्ति को, गङ्गा - तट श्मशान, गत - खेद,

नदी - तीर, पर्वत - गह्वर फिर; भिक्षाटन में समय अपार
पार किया असहाय, छिन्न कौपीन जीर्ण अम्बर तनु धार
द्वार - द्वार फिर, उदय - पूर्ति कर, भग्न-शरीर तपस्या - भार-
धारण से, पर अर्जित क्या पाया है मैंने अन्तर - सार ?

सुनो, सत्य जो जीवन में मैंने समझा है—यह संसार
घोर तरङ्गाघात क्षुब्ध है—एक नाव जो करती पार—
तन्त्र, मन्त्र, नियमन प्राणों का, मत अनेक, दर्शन - विज्ञान,
त्याग - भोग, भ्रम घोर बुद्ध का; 'प्रेम - प्रेम' धन लो पहचान।

जीव - ब्रह्म, नर - निर्जर - ईश्वर - प्रेत - पिशाच - भूत-वैताल—
पशु - पक्षी - कीटाणुकीट में यही प्रेम अन्तर - तम - ज्वाल।
देव, देव! वह और कौन है, कहो चलाता सबको कौन?
—माँ को पुत्र के लिए देता प्राण,—दस्यु हरता है, मौन

प्रेरण एक प्रेम का ही। वे हैं मन - वाणी से अज्ञात—
वे ही सुख - दुख में रहती हैं—शक्ति मृत्यु - रूपा अवदात,
मातृभाव से वे ही आतीं। रोग, शोक, दारिद्र्य कठोर,
धर्म - अधर्म शुभाशुभ में है पूजा उनकी ही सब ओर,

वह भावों से, कहो और क्या कर सकता है जीव विधान?
भ्रम में ही है वह सुख की आकांक्षा में हैं डूबे प्राण
जिसके, वैसे दुख की रखता है जो चाह—घोर उन्माद!—
मृत्यु चाहता है—पागल है वह भी, वृथा अमरतावाद!

जितनी दूर, दूर चाहे जितना जाओ चढ़कर रथ पर
तीव्र बुद्धि के, वहाँ - वहाँ तक फैला यही जलधि दुस्तर
संसृति का, सुख - दुःख-तरङ्गावर्त - घूर्ण्य, कम्पित, चञ्चल,
पङ्ख - विहीन हो रहे हो तुम, सुनो यहाँ के विहग सकल!

नहीं कहीं उड़ने का पथ है, कहाँ भाग जाओगे तुम?
बार - बार आघात पा रहे—व्यर्थ कर रहे हो उद्यम!
छोड़ो विद्या जप - तप का बल; स्वार्थ - विहीन प्रेम आधार
एक हृदय का, देखो, शिक्षा देता है पतङ्ग कर प्यार।

अग्नि - शिखा को आलिङ्गन कर, रूप - मुग्ध वह कीट अधम
अन्ध; और तुम मत्त प्रेम के, हृदय तुम्हारा उज्ज्वलतम।
प्रेमवन्त! सब स्वार्थ - मलिनता अनल - कुण्ड में भस्मीकृत
कर दो, सोचो, भिक्षुक - हृदय सदा का ही है सुख - वर्जित।

और कृपा के पात्र हुए भी तो क्या फल, तुम वारम्वार
सोचो, दो, न फेर कर लो यदि हो अन्तर में कुछ भी प्यार।
अन्तस्तल के अधिकारी तुम, सिन्धु प्रेम का भरा अपार
अन्तर में, दो जो चाहे, हो विन्दु सिन्धु उसका निःसार।

ब्रह्म और परमाणु - कीट तक, सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन - मन वार !
बहु रूपों से खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ हैं ईश ?
व्यर्थ खोज। यह जीव - प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश।

[अनुवाद-काल : 7 अप्रैल, 1926। 'समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर चैत्र, संवत् 1983 वि. (मार्च-अप्रैल, 1926) में प्रकाशित (विवेकानन्द की रचना 'सखार प्रति' का अनुवाद)। द्वितीय **अनामिका** में संकलित]

पद-1 (क)

स्याम नाम किन आनि सुनायो,
पल छिन कल न परत मोहिं आली।
स्रवनन मगु धँसिगो, बसिगो उर,
विकल कियो मो मन वनमाली॥
स्रवत सुधा, लवलीन मीन सम,
नाम नीर नहिं त्यागन चाहौं।
जपत बिबस भो मो तन-मन धनि
पावन-हित चित सों अवगाहौं॥
नाम-प्रतापहिं यह गति भइ जब
अंग - परस - रस धौं किमि होई।
बसत जहाँ वह लखि नयनन सों
निजकुल-धरम जुवति किमि गोई॥
भूलन चाहौं भूलि सकौं नहिं
अब कहु कौन उपाव रह्यो री।
चण्डिदास वारी कुलवारी
तन - जोबन वनवारि लह्यो री॥

[सम्भावित अनुवाद-काल : जनवरी, 1928 (चण्डिदास के एक पद का अनुवाद)। असंकलित]

पद-1 (ख)

सुनायो किन सखि री हरिनाम ?
(सुनायो किन सखि श्याम-सु-नाम ?)
स्रवनन भीतर ह्वै आयो उर,
बिकल कियो मम प्रान।
केतो मधुरी स्याम-नाम मैं
मुख सों छूटत नाहिं।
जपतहिं जपत अबस करि दै तन
पावौं किमि सखि वाहि।
नाम प्रतापहिं यह गति यह री
अंग परस किमि होय।
रहत जहाँ वह सखि नयनन सौं
जुवति धरम किमि गोइ।
भूलौं सोचति, भूलि सकौं नहिं,
अब कहु, कौन उपाव।
चण्डिदास कुलवारिन कुल तजि
जोबन आन लहाव।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, अप्रैल, 1928 ('कविवर श्री चण्डिदास' शीर्षक निबन्ध में उद्धृत)। पद 1 (क) के अनुवाद का दूसरा रूप। असंकलित]

कवि गोविन्ददास की कुछ कविताएँ

"दुलकै दुति चम्पक अंगन सों
अवनी वहि लावनी भाय रही;
अधरान के हास-तरंगन सों
छबि मारहु की मुरझाय रही।
सखि पेखल नागर जा छिन मैं
सरि प्रेम की बाँध बहाय रही;
हरि ने हरि लीनो हमारो हियो
बिकलाई कलाई न लाय रही।

गल झूलति मालती-माल परी
हिय-डोरत, डोरन भावत री;
उड़ि लाख अलीन के वृन्द अली
लवलीन प्रसूनन धावत री।
हँसि हेरि मरोरत अंग अनंग-
तरंगनि रंग दिखावत री;
धनु-भौंहन तान सरान नयानन
बेधत प्रानन आवत री।"

(अनुवाद, गोविन्ददास)

भक्त-शिरोमणि कविवर श्रीगोविन्ददास का बंगला-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। इधर उनकी सरस पदावली के पाठ से कुछ ऐसी भावना उत्पन्न हो गयी, जिसने बलात् मेरे द्वारा उनकी पदावली का हिन्दी-रूपान्तर करा लिया। रूपान्तर में मैंने इच्छानुसार, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि का मिश्रण कर दिया है। प्रधानता ब्रजभाषा और अवधी की ही है। अधिकांश स्थलों में गोविन्ददास की ही अनुकूलता की गयी है। पदों की स्वर-विस्तृति उतनी ही रक्खी गयी है, जितनी गोविन्ददास ने अपने पदों में रक्खी है। इनकी बंगला में ब्रजभाषा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है, और रचना में इन्होंने कविशेखर श्रीविद्यापति के अनुकरण की चेष्टा की है। पदों की गति-रीति आदि उसी तरह की है। अनुवाद में जहाँ आवश्यकता नहीं देखी गयी, वहाँ पूर्व रूप ही रहने दिया गया है। पाठकों के मनोविनोदार्थ कुछ नमूने दिये जाते हैं—

[1]

सुरत-पियास धर्‌यो पिय पानि;
करन निवारइ तरल - नयानि।
हठ - परिरम्भन परसित गात;
'नहिं-नहिं' कहइ हिलावइ माथ।
अभिनव मदन - तरंगिनि राधा;
स्याम सुरंग अवगाहि अगाधा।
चूमत सकुचत लोचन हार;
पियत अधर धनि कर सितकार।
नखर-पखर धनि चौंकि निहार;
दंसत दमकि मोरि तनु हार।
कहतहिं कह गदगद पद आध;
आन मनहिं मनसिज - उनमाद।

[2]

सजल जलद-दुति अंग मनोहर,
छटनि विलोकति नाहहिं गोरी;
ईषत् हँसि, मन सों बिनती करि,
कहि नयननि अरुनाई झोरी।
आजु लख्यों नागर नव नटवर
केलि - कदम्ब - मूल अभिलाषै;
निरखत रूप लाज नयनन की
बहि आनँद-जल सों छबि भाषै।
बौर माल सों बार सँवारति
कवरी जनु सिखि-पुच्छऽनुफन्दी;
रंगिनि नयननि विषम फूँद गुहि
किय चह जनु पिय खंजन बन्दी।

[3]

सुन्दरि, तू बड़ि हृदय पषान;
तुअ लगि मदन-सरानल-पीड़ित
जीवित संसय कान्ह।
बैठि बिटप तर पंथ निहारै,
नयनन बह घन लोर;
'राधा-राधा' सघन जपै हरि,
भेंटत तरुन अथोर।
सखि री, समुझि रूप तुअ कान्ह;
मलयानिल - सीतल-नलिनी-दल
लहि लेपै निज अंग;
चौंकि-चौंकि हरि उठत बेर बहु
घेरत मदन - तरंग।

[4]

सौरभ-आगरि राधा - नागरि
कनक-लता-सम-साज;
हरिचन्दन बलि, अंक रह्यो धरि
कुंज - भुजंगम - राज।
अब का करब उपाव?
काल-भुजंग अंक छोड़ै किमि
मुगुधिनि जुगुति न पाव।

चन्द्रक चारु-कनागन-मण्डित
तिहि विषमारुन दीठ;
राधा-लुबुध-अधर अनुमानत
दरुन - दंस बड़ मीठ।
इक सन्देह सीत के भीतहिं
पुलकन काँप किसोरि;
गोबिंददास मिली सब सखियन
बूझति भाव निचोरि।

[5]

दूरिहि सों अपरूप रूप लखि
लोचन, मन, दुहुँ धाव;
परसन लागि जागि रह अन्तर
जीवन रहइ कि जाव।
माधव, तू राधा - मन - संगी;
प्रेम - ज्वाल पैठी राधा धनि
तनु जनु दहै पतंगी।
कहतहिं कहि न सकै कछु मोहन,
कोन बिसूरइ बाला।
अनुछिन धरनि-सयन का मेटइ
सुतनु अतनु - सर - ज्वाला।
जमुना - कूल-कदम्ब - काननि
नयनन मोचइ बारी।
गोबिंददास कहै अब माधव
कैसे जिय वर नारी।

[6]

माधव, धीरज ना करु गवनहिं;
तुअ बिरहानल अन्तर जरजर
मानस मिलिहै समनहिं।
धूलि-धूसरित धीर न धरु धनि
धरनी सूतल मरमहिं;
कवरीभार मुक्त, हारावलि
त्याग्यो सो असु - धरमहिं।

बिगलित अम्बर, सक सँभार नहिं,
बहति सुरसरी नयननि;
कमलज कमलनि कमलज झंप्यो
सोह नयन - वर - अयननि।
धरनीतल धनि मुरछि परी मनि
प्रान प्रबोध न मानै;
जानै और होय का वा पर
गोबिंददास बखानै।

[7]

निरमल बदन, कमल-वर-माधुरि,
लखत भयो सखि भोर;
अलखहि रंगिनि, भौंह-भुजंगिनि,
मरमहिं दंसल मोर।
राधहि जब हरि देखा;
मदन-महोदधि-निमगन मो मन
आकुल कूल न पेखा।
बंकिम हास, तिरीछे नयननि
मो पर दीठि दयो री!
कियअनुरागिनि, कियो बिरागिनि
संसय समुझत गोरी।
मरम-बिथा सखि, मरमहि जानत,
सरल हृदय तिहि हेर्‌यो;
दास गुबिन्द नितहिं नव-नव रस
रसवति राधहिं गेर्‌यो।

[8]

रतन-मंजरी लावनि सागर
अधरन बांधलि रंग;
दसनन किरन दामिनी दमकत
हँसतहि अमिय-तरंग।
सजनी, राधहिं देख्यो बाट;
लखि मोहिं सुन्दरि, भइ भ्रम-चंचल,
चौंकि चितै चलि जात।

पद दुइ-चारि चलै वर-नागरि
रहित निमिष कर जोरि;
कुटिल कटाख मदन-विसिखनि धनि
मो सरबस लिये छोरि।
मो मन जस गुन सुधि मति साधहिं
लेइ चली अब बाला;
गोबिंददास कहइ माधव सुन
जपतहि तुअ गुन-माला।

[9]

कंचन-कमलहिं पवन पलोट्यो
अइस बदन संचारि;
सरबस लेइ पलटि पुन बाँध्यो
रंगिनि पंक निहारि।
हरि-हरि को दै दारुन बाधा;
नयनन साध न आधहु पूर्यो
फेरि न हेर्यो राधा।
घन-घन-आँचल, कुच कनकाचल,
ढाँपइ पुनि-पुनि हेरि;
जनु मो मन हरि कनक-कुम्भ भरि
मुहर करइ बहु बेरि।
जब बाँध्यो मन, सब इन्द्रियगन
सून मिल्यो तिहि आन;
हरि-मूरति सखि इमि मुरझाई
गोबिंददास प्रमान।

[10]

सखियन संग चली वर रंगिनि
यमुना करन सिनान;
कनक-सिरीस-कुसुम-जित-तनु, कुच
तिहि रवि-किरन-मिलान।
सजनी सो धनि मो चितचोर;
चोरिक पंथ मोहिं दरसायसि
चंचल नयनन कोर।
कोमल चरन, चलति गति मंथर,

उतपत बालुक बेल;
हेरत धनि, मो सजल दीठि, तुअ
जुग चरनन भरि नेल।
मन-चित जुगुल चुरायलि तू सखि,
सून हृदय अब मान;
मनमथ - पाप - दहन तन जारत,
गोबिंद यह बल जान।

[11]

आध-आध-अंगनि मिल्यो, सखि जब राधा कान्ह;
अर्द्ध भाल ससि देखिए, अर्द्ध भाल छबि भान।
अर्द्ध गले कुंजर - सिरन, मुक्ता आधहिं माल;
अर्द्ध गौर तन देखिए, आधो स्याम बिसाल।
पीताम्बर आधे तनुहिं, आधे नील निचोल;
आधे भुज बाला लसत, आधे चुरियन-बोल
आधे अंगन हिलि रह्यो, आधे थेर्‌यो बाहु;
दास गुबिंद बखानिए, ग्रस्यो चन्द जनु राहु।

[12]

लखु सखि, राधा - माधव संग;
दुहूँ मिलत आनन्द बढ़ो बहु,
दुहु मन चढ़ो अनंग।
दुहुँ कर परसत, पुलक दुहूँ तन,
दोउन अधफुट बोल;
नील मनिहि कंचन भेट्यो जनु,
तोलत लोचन मोल।
किंकिनि-नूपुर-बलय-बिभूषन
मंजीरन करु रोर;
अबस भयो आवेस लहत तन
दुहुँ घन - दामिनि-जोर।
चूमत सघन देखि दोऊ मुख,
मन्द मधुर मृदु हास;
स्याम-तमालहिं कनक-लता गिरि
देखत गोबिंददास।

[13]

दोउ मुख निरखि बिहँसि दोउ लोचन,
सावन बरखत नीर;
व्याकुल हिय, हिय दोऊ लावत,
दोउ जनु एक सरीर।
सजनि न बूझे मरमक भाव;
द्वउ-द्वउ सरबस, रस-भर परबस
नीरस किय परभाव।
द्वउकर - कमल चिबुक द्वउ परसहिं
कहत न आवइ बात;
दारिद रतन जतन जनु संवरु,
सतत लाव उर हाथ।
कर-कमलनि द्वउ परसि द्वउन पद,
बरखि अमिय, करु आस;
कबहूँ दूर-दूर अनुमानइ,
उनमत चित अभिलाष।
दरसन सरस परस द्वउ मानहिं,
द्वउ रस-सागर-भान;
बारहिंबार करत अवगाहन
बूझत आपन ज्ञान।
दुहुँक बिलास-कला-रस हेरत
मदन तजइ अभिमान;
गोबिंददास दोऊ रस - धारन,
पाप-रजनि-अवसान।

[14]

रति-रस सरसि स्याम-हिय सूतलि
सरद - इन्दु - मुख बाला;
मरकत मदनहिं क्वउ जनु पूजल
दै नव कंचन - माला।
स्यामल मुख पर ससि-मुख थापित
उर पर कुच-युग राज;
कनक-कुम्भ जनु उलटि दयो क्वउ
मदन - महोदधि - माँझ।

जोरल तन, मन भुज-भुज-बन्धन,
अधरन अधर मिलाव;
घेरि मृनाल - हेम नीलम - मनि
जनु बाँध्यो इक ठाँव।
घन-सह दामिनि, सजि दुकूल द्वउ,
दोउन इक पटवास;
चरनन घेर चारु सरसीरुह
मधुकर गोबिंददास।

[15]

आधहिं आध, आध दृग अँचरहिं,
जब धनि पेख्यो कान्ह;
सखि सत कोटि कुसुम-सर-जरजर,
रहय कि जाय परान।
सजनी, जानलि हम बिधि बाम;
द्वउ लोचन भरि जो हरि हेरइ,
इहइ तासु परिनाम।
कहत सुनयनि कान्हघन साँवरि,
मुहिं बिजुरी सम लाग;
तासु परस-रस बहति रसवती,
भो उर मो जनु आगि।
प्रेमवती रस - हित जिय तेजत,
चपल जीव, मधु साध;
गोबिंददास जान सिरिबल्लभ,
रसवति - रस - मरजाद।

[16]

जिहिं दरसन तन पुलकहिं भरई;
जिहिं करखन जग - बन्धन हरई।
जिहिं भेंटै फिरि बसनहु खलई;
जिहिं चुम्बन अधरन दलमलई।
ए सखि, मानिय हरि - सँग मेल;
जब अस होय मनोभव - केल।
जहँ रंकिनि मनि - कंकन - बोलइ;
जहँ नख - खतन दुहुँन तन खोलइ।

जहँ मनि - नूपुर तरलित कलई;
जहँ स्रमजल लहि चन्दन गलई।
जहँ ऐसो रस नहिं निरबहई;
तहँ परिवादहि गोबिंद कहई।

[17]

जब हरि-पानि-परस सों काँपहु
झाँपहु - झाँपहु अंग;
तब करि घनहिं घन मनिमय अभरन,
किहिसन लावहु रंग।
ए धनि, अबहुँ न समुझसि काज ?
जिहि जागे बिन जियहु न नींदहु
तिहि सन का भय लाज ?
भरत अंक, तन जोरि बल्लरी,
'नहिं - नहिं' बोलसि थोर;
चुम्बन बेरि, जानि मुख मोरसि,
जनु बिधु - लुबुध चकोर।
जब है नाह नियत-रति-सम्मत,
पारत नहिं अभिलाष;
गोबिंददास नाइ बहुबल्लभ,
कइसे रहइ तुअ पास।

[18]

दोउ जन नित-नित नव अनुराग;
रूप दुहुँन नित दोउ हिय जाग।
दोउ मुख चूमइ दोउ कर कोर;
दोउ परिरम्भन दोउ भयो भोर।
दोउ दुहुन जंग दारिद हेम;
नित-नित बाढ़त नव-नव प्रेम।
नित-नित ऐसहि करत विलास;
नित - नित हेरइ गोबिंददास।

[पद-संख्या 5 से लेकर 13 तक 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, के मार्च, 1929 के अंक में 'गोबिन्ददास-पदावली' शीर्षक से तथा सारे पद 'सुधा', मासिक, लखनऊ, के मई, 1929 के अंक में 'बंगाली कवि गोविन्ददास की कुछ कविता' शीर्षक से प्रकाशित। **प्रबन्ध-प्रतिमा** में संकलित]

सागर के वक्ष पर

नील आकाश में बहते हैं मेघदल,
श्वेत कृष्ण बहुरंग,
तारतम्य उनमें तारल्य का दीखता,
पीत भानु माँगता है विदा,
जलद रागछटा दिखलाते ।

बहती है अपने ही मन से समीर,
गठन करता प्रभंजन,
गढ़ क्षण में ही, दूसरे क्षण में मिटता है,
कितने ही तरह के सत्य जो असम्भव है—
जड़ जीव, वर्ण तथा रूप और भाव बहु ।

आती बह तुलाराशि जैसी
फिर बाद ही लखो महानाग,
देखो विक्रम दिखाता सिंह,
लखो युगल प्रेमियों को,
किन्तु मिल जाते सब
अन्त में आकाश में ।

नीचे सिन्धु गाता वह तान,
महीयान किन्तु नहीं वह,
भारत, तुम्हारी अम्बुराशि विख्यात है,
रूप-राग जलमय हो जाते हैं,
गाते हैं यहाँ किन्तु
करते नहीं गर्जन ।

['समन्वय', मासिक, कलकत्ता, सौर भाद्रपद, संवत् 1986 वि. (अगस्त-सितम्बर, 1929) (विवेकानन्द की रचना 'सागर-वक्षे' का अनुवाद) **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) के परिशिष्ट में संकलित]

शिव-संगीत-2

(ताल-सुर—फाँक ताल)

हर हर हर भूतनाथ पशुपति ।
योगेश्वर महादेव शिव पिनाकपाणि ।।
ऊर्ध्व ज्वलन्त जटाजाल, नाचत व्योमकेश भाल,
सप्त भुवन धरत ताल, टलमल अवनी ।।

[सम्भावित अनुवाद-काल : 1922-30 (विवेकानन्द के 'शिव-संगीत' नामक गीतों में से एक का अनुवाद) । असंकलित]

भूमिकाएँ और समर्पण

1. प्रथम 'अनामिका' में समर्पण के स्थान पर दी गयी पंक्तियाँ

माँ,

जिस तरह चाहो बजाओ इस वीणा को,
यन्त्र है;
सुनो तुम्हीं अपनी सुमधुर तान;
बिगड़गी वीणा तो सुधारोगी बाध्य हो।

—सूर्यकान्त

2. 'परिमल' की भूमिका

भूमिका

हिन्दी की वाटिका में खड़ी बोली की कविता की क्यारियाँ जो कुछ समय पहले दूरदर्शी बागवानों के परिश्रम से लग चुकी थीं, आज धीरे-धीरे कलियाँ लेने लगी हैं। कहीं-कहीं, किसी-किसी पेड़ के दो-चार सुमन पंखुड़ियाँ भी खोलने लगे हैं। उनकी अमन्द सौरभ लोगों को खूब पसन्द आयी है। परन्तु यह हिन्दी के उद्यान में अभी प्रभात-काल ही की स्वर्णच्छटा फैली है। उसमें सोने के तारों का बुना कल्पना का जाल ही अभी है, जिसमें किशोर कवियों ने अनन्त-विस्तृत नील प्रकृति को प्रतिमा में बाँधने की चेष्टाएँ की हैं, उसे प्रभात के विविध वर्णों से चमकती हुई अनेक रूपों में सुन्दर देखकर। वे हिन्दी के इस काल के शुष्क साहित्य-हृदयों में उन मनोहर प्रतिमाओं को प्रतिष्ठिन करने का विचार कर रहे हैं। इसीलिए, अभी जागरण के मनोहर चित्र, आह्लाद-परिचय आदि जीवन के प्राथमिक चिह्न ही देख पड़ते हैं, विहंगों का मधुर-कल-कूजन, स्वास्थ्यप्रद, स्पर्श-सुखकर शीतल वायु, दूर तक फैली हुई प्रकृति के हृदय की हरियाली, अनन्तवाहिनी नदियों का प्रणय-चंचल वक्ष-स्थल, लहरों पर कामनाओं की उज्ज्वल किरणें, चारों ओर बाल-प्रकृति की सुकुमार चपल दृष्टि। इसके सिवा अभी कर्म की अविराम धारा बहती हुई नहीं देख पड़ती। इस युग के कुछ प्रतिभाशाली अल्प-वयस्क साहित्यिक प्राचीन 'गुरुडम' के एकच्छत्र साम्राज्य में बगावत के लिए शासन-दण्ड ही पा रहे हैं, अभी उन्हें साहित्य के राजपथों पर साधिकार स्वतन्त्र रूप से चलने का सौभाग्य नहीं मिला; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस नवीन जीवन के भीतर से शीघ्र ही एक ऐसा आवर्त बँधकर उठनेवाला है, जिसके साथ साहित्य के अगणित जल-कण उस एक ही चक्र की प्रदक्षिणा करते हुए उसके साथ एक ही प्रवाह में बह जायेंगे, और लक्ष्य-भ्रष्ट या निदाघ से शुष्क न हो एक ही जीवन के उदार महासागर में विलीन होंगे। यह नवीन साहित्य के क्रिया-काल में सम्भव होगा। अभी तो प्रत्येक नवयुवक लेखक और कवि अपनी ही प्रतिभा के प्रदर्शन में लगा हुआ है। अभी उसमें अधिकांश साहित्यिक अपने को समझ भी नहीं सके। जो कवि नहीं, वह भी अपने को कविता के क्षेत्र पर अप्रतिद्वन्द्वी समझता है। सब लोग अपनी ही कुशलता और अपनी ही रुचि-विशेषता को लेकर साहित्य के बाजार में खड़े हुए देख पड़ते हैं। कहीं-कहीं तो बड़ा ही विचित्र नज्जारा है। प्रशंसा और आलोचना में भी आदान-प्रदान जारी है। दलबन्दियों के भाव जिसमें न हों, ऐसे साहित्यिक कदाचित् ही

नजर आते हैं। और प्रतिभाशाली साहित्यिकों को निष्प्रभ तथा हेय सिद्ध करके ससम्मान आसन ग्रहण करनेवाले महालेखक और महाकविगण साहित्य में अपनी प्राचीन गुलामी-प्रथा की ही पुष्टि करते जा रहे हैं।

ऐसी परिस्थिति में 'परिमल' निकल रहा है। इसमें मेरी प्राथमिक अधिकांश चुनी हुई रचनाएँ हैं। इसके मैंने तीन खण्ड किये हैं। प्रथम खण्ड में सममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ हैं, जिनके लिए हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों के द्वारपालों को 'प्रवेश-निषेध' या 'भीतर जाने की सख्त मुमानियत है' कहने की जरूरत शायद न होगी। दूसरे खण्ड में विषममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ हैं। इस ढंग के साथ मेरे 'समवाय: सखा मत:' या 'एकक्रियं भवेन्मित्रम्' सुकुमार कवि-मित्र पन्तजी के ढंग का साम्य है; यह भी उसी तरह ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक संगीत पर चलता है। पन्तजी के छन्दों में स्वर की बराबर लड़ियाँ या सममात्राएँ अधिक मिलती हैं, इसमें बहुत कम—प्रायः नहीं। ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक संगीत का मुक्त रूप ऐसा ही होगा, जहाँ स्वर के उत्थान तथा पतन पर ही ध्यान रहता है, और भावना प्रसारित होती चली जाती है। तीसरे खण्ड में स्वच्छन्द छन्द हैं, जिसके सम्बन्ध में मुझे विशेष रूप से कहने की जरूरत है। कारण, इसे ही हिन्दी में सर्वाधिक कलंक का भाग मिला है।

हिन्दी के हृदय में खड़ी बोली की कविता का हार प्रभात की उज्ज्वल किरणों से खूब ही चमक उठा है, इसमें कोई सन्देह नहीं, और यह भी निर्भ्रान्त है कि राष्ट्र-प्राप्ति की कल्पना के काम्यवन में सविचार विचरण करनेवाले हमारे राष्ट्रपतियों के उर्वर मस्तिष्क में कानूनी कोणों के अतिरिक्त भाषा के सम्बन्ध की अब तक कोई भावना, महात्माजी, महामना मालवीयजी तथा लोकमान्य जैसे दो-चार प्रख्यात-कीर्ति महापुरुषों को छोड़कर, उत्पन्न नहीं हुई; जो कुछ थोड़ा-सा प्रचार तथा आन्दोलन राष्ट्र-भाषा के विस्तार के लिए किया जा रहा है, उसका श्रेय हिन्दी के शुभचिन्तक साहित्यिकों को, हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं को ही प्राप्त है। बंगाल अभी तक अपनी ही भाषा के उत्कर्ष की ओर तमाम भारतवर्ष को खींच लेने के लिए उत्कण्ठित-सा देख पड़ता है। इसका प्रमाण महामना मालवीयजी के सभापतित्व में, कलकत्ता-विद्यासागर कॉलेज होटल में दिये हुए अंग्रेजी के विद्वान् प्रोफेसर जे. एल. बनर्जी महाशय के भाषण से मिल चुका है। भरतपुर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में महाकवि रवीन्द्रनाथ ने भी अपने भाषण में राष्ट्र-भाषा के प्रचार पर विशेष कुछ नहीं कहा, जैसे महात्मा गांधीजी द्वारा प्रचारित चर्खा-विषय की आवश्यकता की तरह यह राष्ट्र-भाषावाद भी कोई अनावश्यक विषय हो। उन्होंने केवल यही कहा कि अपनी भाषा में वह चमत्कार दिखलाने की कोशिश कीजिए, जिससे लोग स्वयं उसकी ओर आकृष्ट हों।

यहाँ तमाम विरोधी उक्तियों के खण्डन-मण्डन की जगह नहीं। मैं केवल यही कहूँगा कि प्रत्येक समाज के लिए कुछ हृदय-धर्म है, और कुछ मस्तिष्क-धर्म। अभी हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने में मस्तिष्क-धर्म से ही काम लिया जाता है, जिस तरह साम्पत्तिक विचार से चर्खा और खद्दर के लिए। हिन्दी के प्राचीन साहित्य के साथ तुलना करने पर प्रान्तीय कोई भाषा नहीं टिकती, और उसका नवीन

साहित्य भी क्रमश: पुष्ट होता जा रहा है, जिसे देखकर यह आशा दृढ़ हो जाती है कि शीघ्र ही हिन्दी के गर्भ से बड़े-बड़े मनस्वी साहित्यिकों का उद्भव होगा। इस समय भी साहित्य में हिन्दी अद्भुत प्रगति दिखला रही है। उधर जो लोग, खासकर बंगाल के लोग, अपनी ही भाषा की सार्वभौमिकता के प्रचार की कल्पना में लीन हैं, जिन्होंने पुस्तकें लिखकर बोलचाल की हिन्दी के तमाम विभाग करते हुए उसे आगरे के इर्द-गिर्द में बोली जानेवाली कुछ ही लोगों की भाषा ठहराया है, और इस तरह अन्यान्य भाषाओं के साथ अपनी बंगला का मुकाबिला करते हुए उसे ही अधिक संख्यक मनुष्यों की भाषा सिद्ध किया है, जिन्होंने अमेरिका में रहने का रोब दिखलाते हुए बंगला को ही राष्ट्र-भाषा का आसन दे डाला है, जो लोग छिपे तौर से बंगला के प्रचार के उपाय सोच रहे हैं, जिन लोगों को पश्चिमोत्तर भारत-वर्ष के तमाम शहरों में बंगालियों की अच्छी स्थिति के कारण उन्हीं की भाषा के प्रसार की बात सूझती है, वे राष्ट्र-भाषा के अपर प्रश्नों की तरफ बिलकुल ही ध्यान नहीं देते, एक तृतीयांश मुसलमानों का विचार उनके मस्तिष्क में नहीं आता, वे नहीं जानते कि आर्य उच्चारण और बंगला के मंगोलियन उच्चारण में क्या भेद है—बंगला के उच्चारण-असादृश्य से पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, गुजरात और महाराष्ट्र की संस्कृति को कितना धक्का पहुँचता है, वे नहीं जानते। उस तलवार के जमाने में सिर कटाकर भी साहित्य में अपनी संस्कृति की रक्षा करनेवाले वे गत शताब्दियों के महापुरुष अपनी भाषा और लिपि के भीतर से असीम बल अपनी सन्तानों को दे गये हैं, वे नहीं जानते कि आजकल के जमींदारों, मैयों, मारवाड़ियों (मेड़ों) और गुजरातियों के निरक्षर शरीर के भीतर कितना बड़ा स्वाभिमान इस दैन्य के काल में भी जाग्रत् है, वे 'बहु-जन-हिताय, बहु-जन सुखाय' का बिलकुल खयाल नहीं करते। इधर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी से लेकर आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी तक जिन लोगों को खड़ी बोली की प्राण-प्रतिष्ठा का श्रेय मिला है, भाषा के मार्जन में जिन लोगों ने अपने शरीर के तमाम रक्त-बिन्दु सुखा दिये हैं, हिन्दी में खिचड़ी-शैली के समावेश तथा प्रचार से शहरों के प्रचलित उर्दू-शब्दों तथा मुहाविरों को साहित्य में जगह देते हुए मुसलमान-शासन-काल के चिह्न भी रख दिये हैं, और इस तरह अपने मुसलमान भाइयों को भी राष्ट्र की सेवा के लिए आमन्त्रित किया है, साहित्य के साथ-साथ राष्ट्र-साहित्य की भी कविता का उन्हीं लोगों ने प्रथम शृंगार किया है। वे जानते थे, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और रंगून आदि अपर-भाषा-भाषी प्रान्तों में हिन्दी ही राज्य-कार्य तथा व्यवसाय आदि में लायी जा सकती है, शासक अँगरेजों के मस्तिष्क में भी यही खयाल जड़ पकड़े हुए है, और वे भारत के लिए हिन्दी को ही सार्वभौमिक भाषा मानते और कार्य-सञ्चालनार्थ उसी की शुद्धाशुद्ध शिक्षा ग्रहण करते हैं। मैं यहाँ अवश्य बंगला का विरोध नहीं कर रहा, उसके आधुनिक अमर साहित्य का मुझ पर काफी प्रभाव है, मैं यहाँ केवल औचित्य की रक्षा कर रहा हूँ। जिस भाषा के आकार का उच्चारण बिलकुल अनार्य, है, जिसमें ह्रस्व-दीर्घ का निर्वाह होता ही नहीं, जिसमें युक्ताक्षरों का एक भिन्न उच्चारण होता है, जिसके 'स'कारों और 'न'कारों के भेद सूझते ही नहीं, वह भाषा चाहे जितनी

मधुर हो, साहित्यिकों पर उसका जितना भी प्रभाव हो, यह कभी भारत की सर्वमान्य राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती। और, जब तक लोग इस वाद-विवाद में पड़े हैं, नेतागण अँगरेजी के प्रवाह में आत्मविस्मृत हुए बह रहे हैं, तब तक खड़ी बोली अपने साहित्य के उत्कर्ष में श्रेष्ठ आसन ग्रहण कर लेगी, इसमें मुझे बिलकुल ही सन्देह नहीं। मैं यह भी जानता हूँ कि जो राष्ट्र-भाषा होगी, उसे अपने साहित्यिक पौरुष से ही वह पद प्राप्त करना होगा, और उसके सेवक इस विचार से बिलकुल निश्चेष्ट और परमुखापेक्षी भी नहीं रह गये। कारण, आलोक और प्रतिभा सबके लिए समान रूप से मुक्त है।

मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं—फिर भी स्वतन्त्र, इसी तरह कविता का भी हाल है। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है। जैसे बाग की बँधी और वन की खुली हुई प्रकृति—दोनों ही सुन्दर हैं, पर दोनों के आनन्द तथा दृश्य दूसरे-दूसरे हैं। जैसे आलाप और ताल की रागिनी। इसमें कौन अधिक आनन्दप्रद है, यह बतलाना कठिन है, पर इसमें सन्देह नहीं कि आलाप वन्य प्रकृति तथा मुक्त काव्य स्वभाव के अधिक अनुकूल है। मेरे मुक्त काव्य के समर्थन में पण्डित जयदेव विद्यालंकारजी ने देहरादून-कवि-सम्मेलन में जो प्रहसन खेला था, उसमें गायत्री-मन्त्र का उदाहरण विरोधी जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी के सामने पेश किया था। लाखों ब्राह्मण गायत्री-मन्त्र का जाप करते हैं। उसके जप के साथ-साथ भाषा की मुक्ति का प्रवाह प्रतिदिन उनके जिह्वाग्र से होकर बहता है, पर वे उसका अर्थ, उसकी सार्थकता, सब-कुछ भूल गये है। चूंकि उस छन्द का एक नाम 'गायत्री' रख दिया गया है, इसलिए प्राय: अज्ञजन उसमें स्त्री-मूर्ति ही की कल्पना कर बैठे हैं। 'तत्सवितु-र्वरेण्यम्' में खुलासा ब्रह्म की स्तुति है कि वह सूर्य का भी वरेण्य है। 'तत्' न स्त्री है, न पुरुष। जिस तरह ब्रह्म मुक्त-स्वभाव है, वैसे ही यह छन्द भी। पर आज इस तरफ कोई दृक्पात भी नहीं करना चाहता। इतनी बड़ी दासता—रूढ़ियों की पाबन्दी इस मन्त्र के जपनेवालों पर भी सवार है। वेदों में काव्य की मुक्ति के ऐसे हजारों उदाहरण हैं, बल्कि 95 फीसदी मन्त्र इसी प्रकार मुक्त-हृदय के परिचायक हो रहे हैं। इन मन्त्रों को ईश्वर-कृत समझकर अनुयायीगण विचार करने के लिए भी तैयार नहीं, न पराधीन काल की अपनी बेड़ियाँ किसी तरह छोड़ेंगे, जैसे उन बेड़ियों के साथ उनके जीवन और मृत्यु का सम्बन्ध हो गया हो। 'ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। यहाँ उस मुक्त-स्वभाव ईश्वर को सर्वभूतों के हृदय में ही ठहरा दिया गया है, और हृदय तक मन को उठा सकनेवाले जो कुछ भी करते हैं, मुक्त-स्वभाव से करते हैं, इसलिए वह कृति जैसे ईश्वर की कृति ही हो जाती है। बात यह है वेदों की अपौरुषेयता की। वे मनुष्यकृत ही हैं, पर वे मनुष्य उल्लिखित प्रकार के थे। आजकल की तरह के रूढ़ियों के गुलाम या

अँगरेजी पुस्तकों के नक्काल नहीं। ईश्वर के सम्बन्ध की ये बातें जो समझते हैं, उनमें एक अद्‌भुत शक्ति का प्रकाश होता है। वे स्वयं भी अपनी महत्ता को समझते और खुलकर कहते भी हैं। उनकी वाणी में महाकर्षण रहता है। संसार उस वाणी से मन्त्र-मुग्ध हो जाता है। उस पर उस स्वर्गीय शक्ति की धाक जम जाती है। वह उस प्रभाव को मान लेता है। वैदिक काल के मुक्त-स्वभाव कवियों का एक और उदाहरण लीजिए—

सपर्यगाच्छक्रमकायव्रत-
मस्नाविरथं शुद्धमपापविद्धम्;
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्यः।

(यजु. अ. 40, मं. 8)

जरा चौथी पंक्ति को देखिए, कहाँ तक फैलती चली गयी है। फिर भी किसी ने आज तक आपत्ति नहीं की। शायद इसके लिए सोच लिया है कि साक्षात् परमात्मा आकर लिख गये हैं। अजी, परमात्मा स्वयं अगर यह रबड़-छन्द और केचुआ-छन्द लिख सकते हैं, तो मैंने कौन-सा कसूर कर डाला ? आखिर आपके परमात्मा का ही तो अनुसरण किया है। आप लोग कृपा करके मुझे क्यों नहीं क्षमा कर देते ?एक बात ध्यान देने की और है। संस्कृत-काल के गणात्मक छन्दों की भी परवा वैदिक काल में नहीं की गयी। इस छन्द की जो तीन पहली लड़ियाँ बराबर मालूम पड़ती हैं, उनमें भी स्वच्छन्दता पायी जाती है। देखिये, पहला वर्ण ह्रस्व है और दूसरा दीर्घ। अब गणों का साम्य नहीं रहा।

तीन-तीन और पाँच-पाँच सतरों की कविता इसी समय नहीं, पहले भी हुआ करती थी—

ऋग्वेद—

आ शुभ्रा यातमश्विना स्वश्वा
गिरो दस्रा जुजुषाणा युवाकोः
हण्याति च प्रतिभृता वीतं नः।

वैदिक साहित्य—काव्य में इस प्रकार की स्वच्छन्द सृष्टि को देखकर हम तत्कालीन मनुष्य-स्वभाव की मुक्ति का अन्दाजा लगा लेते हैं। परवर्ती काल में ज्यों-ज्यों चित्रप्रियता बढ़ती गयी, साहित्य में स्वच्छन्दता की जगह नियन्त्रण तथा अनुशासन प्रबल होता गया, यह जाति त्यों-त्यों कमजोर होती गयी है। सहस्रों प्रकार के साहित्यिक बन्धनों से जाति स्वयं भी बँध गयी, जैसे मकड़ी आप ही अपने जाल में बंध गयी हो, जैसे फिर निकलने का एक ही उपाय रह गया हो कि उस जाल की उल्टी परिक्रमा कर वह उससे बाहर निकले। उस ऊर्णनाभ ने जितनी जटिलता दूसरे जीवों को फाँसने के लिए उस जाल में की थी, वह उतने ही

दृढ़ रूप से बँधा हुआ है, अब उसे अपनी मुक्ति के लिए उन तमाम बन्धनों को पार करना होगा। यही हाल वर्तमान समय में हमारे काव्य-साहित्य का है। इस समय के और पराधीन काल के काव्यानुशासनों को देखकर हम जाति की मानसिक स्थिति को भी देख ले सकते हैं! अनुशासन के समुदाय चारों तरफ से उसे जकड़े हुए हैं। साहित्य के साथ-साथ राज्य, समाज, धर्म, व्यवसाय, सभी कुछ पराधीन हो गये हैं। चित्र स्वयं ससीम हैं, इसलिए उन्हें प्यार करनेवाली वृत्ति भी एक सीमा के अन्दर चक्कर लगाया करती है, और इस तरह उस वृत्ति को धारण करनेवाला मनुष्य भी चाहे पहले का स्वतन्त्र हो, पर पीछे से सीमा में बँधकर पराधीन हो जाता है। नियम और अनुशासन भी सीमा के ही परिचायक होते हैं, और क्रमशः मनुष्य-जाति को क्षुद्र से क्षुद्रतर तथा गुलाम से गुलाम कर देनेवाले।

साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। धीरे-धीरे चित्रप्रियता छूटने लगती है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है। चित्रों की सृष्टि तो होती है, पर वहाँ उन तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य में मिलाने की चेष्टा रहती है। बर्फ में जैसे तमाम वर्णों की छटा, सौन्दर्य आदि दिखाकर उसे फिर किसी ने वाष्प में विलीन कर दिया हो या असीम सागर से मिला दिया हो। साहित्य में इस समय यही प्रयत्न जोर पकड़ता जा रहा है, और यही मुक्ति-प्रयास के चिह्न भी हैं। अब लीलाम्बरी ज्योतिर्मूर्ति की सृष्टि कर चतुर साहित्यिक फिर उसे अनन्त नील-मण्डल में लीन कर देते हैं। पल्लवों के हिलने में किसी अज्ञात चिरन्तन अनादि सर्वज्ञ को हाथ के इशारे अपने पास बुलाने का इंगित प्रत्यक्ष करते हैं। इस तरह चित्रों की सृष्टि असीम सौन्दर्य में पर्यवसित की जाती है, और यही जाति के मस्तिष्क में विराट् दृश्यों के समावेश के साथ-ही-साथ स्वतन्त्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं।

यही बात छन्दों के सम्बन्ध में भी है। छन्द भी जिस तरह कानून के अन्दर सीमा के सुख में आत्मविस्मृत हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की शृंखला रखते हुए श्रवण-माधुर्य के साथ-ही-साथ श्रोताओं को सीमा के आनन्द में भुला रखते हैं, उसी तरह मुक्त छन्द भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महासमुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों, दूर प्रसारित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई।

'कविता-कौमुदी' में पण्डित रामनरेशजी त्रिपाठी ने जैसा लिखा है, भिन्न-तुकान्त (Blank verse) का श्रीगणेश पहले-पहल हिन्दी में प्रसिद्ध कवि बाबू जयशंकर 'प्रसाद'जी ने किया है। उनका यह छन्द इक्कीस मात्राओं का है। पण्डित रूपनारायणजी पाण्डेय ने इस छन्द का उपयोग (शायद अपने अनुवाद में) बहुत काफी किया है। पाण्डेयजी से इस छन्द के सम्बन्ध में पूछने पर, उन्होंने जो उत्तर दिया, उससे इस विषय का फैसला न हुआ कि छन्द के प्रथम लिखनेवाले 'प्रसाद'-जी हैं या वह। उदाहरण पाण्डेयजी द्वारा अनुवादित रवीन्द्रनाथ की 'राजारानी' से दे रहा हूँ—

'कहना होगा सत्य तुम्हारा ! किन्तु मैं
करता हूँ विश्वास तुम्हारी बात का
जब तक, तब तक तुम चिन्ता कुछ मत करो।
तुम पर से विश्वास उठेगा जिस घड़ी,
सत्यासत्य विचार करूँगा मैं तभी।'

यह भिन्नतुकान्त छन्द मात्रिक है। एक भिन्नतुकान्त हिन्दी में दूसरे प्रकार का बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त द्वारा आया है—वह वर्णात्मक है—उसका भी उपयोग अनुवाद ही के रूप में गुप्तजी ने किया है। उदाहरण उनके 'वीरांगना-काव्य' के अनुवाद से देता हूँ—

'सुनो अब दुःख-कथा मन्दिर में मन के
रख वह श्याम मूर्ति त्यागिनी-तपस्विनी
पूजे इष्टदेव को ज्यों निर्जन गहन में—
पूजती थी नाथ को मैं; अब विधि-दोष से
चेदीश्वर राजा शिशुपाल जो कहाता है,
लोक-रव सुनती हूँ, हाय ! वर-वेश से
आ रहा है शीघ्र यहाँ वरने अभागी को !'

एक तीसरे प्रकार का अतुकान्त काव्य (Blank verse) हिन्दी में और है। इसके रचयिता हैं हिन्दी के प्रसिद्ध महाकवि अयोध्यासिंहजी उपाध्याय। बहुतों ने इनके लिखे हुए 'प्रिय-प्रवास' के अतुकान्त छन्दों को ही हिन्दी की प्रथम अतुकान्त सृष्टि माना है। उपाध्यायजी ने इसकी भूमिका में गण-वृत्तों को हिन्दी में अतुकान्त काव्य के योग्य माना है, और यह इसलिए कि संस्कृत की कविता अतुकान्त है और वह गण-वृत्तों में है। यथा—

'अधिक और हुई नभ - लालिमा,
दश दिशा अनुरञ्जित हो गयीं;
सकल पादप - पुञ्ज - हरीतिमा
अरुणिमा - विनिमज्जित - सी हुई।'

एक प्रकार का अतुकान्त 19 मात्राओं का और लिखा गया है। जहाँ तक पता चलता है, अभी सुकवि बाबू सियारामशरण गुप्त इसके प्रथम आविष्कारक ठहरते हैं। हिन्दी के कोमल कवि पन्तजी ने भी इतनी ही मात्राओं के अतुकान्त छन्द में 'ग्रन्थि' नाम की अपनी मनोहर कविता कई संख्याओं में 'सरस्वती' में छपवायी है। सियारामशरणजी ने 'प्रभा' में इस प्रकार की अतुकान्त कविता पहले-पहल लिखी थी, यह मुझे उन्हीं के कथनानुसार मालूम हुआ है। अब तक मैं समझता था, इस 19 मात्राओं के अतुकान्त काव्य के पन्तजी ही प्रथम आविष्कारक हैं। यह इस प्रकार है—

विरह अहह ! कराहते इस शब्द को
निठुर विधि ने आँसुओं से है लिखा। —सुमित्रानन्दन पन्त

एक बार की अतुकान्त कविता का रूप पण्डित गिरिधरजी शर्मा 'नवरत्न' ने हिन्दी में खड़ा किया है। इसकी गति कवित्त-छन्द की-सी है। हरएक छन्द आठ-

आठ वर्णों का होता है। अन्त्यानुप्रास नहीं रहता। मैंने रवीन्द्रनाथ की एक कविता के अनुवाद में इनके अतुकान्त काव्य का रूप देखा था। 'मेरे पंख मुरदार', इस तरह हर पंक्ति में आठ-आठ अक्षर रहते हैं। अमित्र कविता इस प्रकार हिन्दी के गण, मात्रा और वर्ण, तीनों वृत्तों में हुई है। यहाँ किसकी कविता सफल है और किसकी निष्फल, इसका विचार नहीं किया गया। इसका फैसला भविष्य के लोग करेंगे। मुझे केवल यही कहना है कि हिन्दी में अतुकान्त कविता के कवियों में किसी ने भी दूसरे का अनुसरण नहीं किया। जहाँ कहीं मात्राओं में मेल हो गया है, वहाँ मुमकिन है, एक को अपने दूसरे कवि की रचना परखने का मौका न मिला हो, और दोनों की मौलिकता एक-दूसरे से लड़ गयी हो। ऐसा न होता, तो वे कोई दूसरा छन्द जरूर चुनते, जबकि अन्त्यानुप्रास उड़ा देने से ही अतुकान्त काव्य बन जाता है। इस प्रकार की अतुकान्त कविता में प्रथम श्रेय आल्हखण्ड के लिखनेवाले को हिन्दी में प्राप्त है।

इस तरह की कविता अतुकान्त काव्य का गौरव-पद भले ही अधिकृत करती हो, वह मुक्त-काव्य या स्वच्छन्द कदापि नहीं। जहाँ मुक्ति रहती है, वहाँ बन्धन नहीं रहते—न मनुष्यों में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृंखलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया, तो वह कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते, न उस काव्य को मुक्त-काव्य कह सकते हैं। ऊपर जितने प्रकार के अतुकान्त काव्य के उदाहरण दिये गये हैं, सब एक-एक सीमा में बंधे हुए हैं, एक-एक प्रधान नियम सबमें पाया जाता है। गण-वृत्तों में गणों की शृंखला, मात्रिक-वृत्तों में मात्राओं का साम्य, वर्ण-वृत्तों में अक्षरों की समानता मिलती है। कहीं भी इस नियम का उल्लंघन नहीं किया गया। इस प्रकार के दृढ़ नियमों से बँधी हुई कविता कदापि मुक्त छन्द नहीं हो सकती। मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में जितनी कविताएँ हैं, सब इसी प्रकार की हैं। उनमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त-छन्द का-सा जान पड़ता है। कहीं-कहीं अक्षर आप-ही-आप आ जाते हैं। मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है, और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।

"विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी
स्नेह-स्वप्न-मग्न अमल-कोमल-तनु तरुणी
जुही की कली
दृग बन्द किये—शिथिल—पत्रांक में।"

यहाँ 'सोती थी सुहाग-भरी' आठ अक्षरों का एक छन्द आप-ही-आप बन गया है। तमाम लड़ियों की गति कवित्त-छन्द की तरह है।

हिन्दी में मुक्त-काव्य कवित्त छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है। कारण, यह छन्द चिरकाल से इस जाति के कण्ठ का हार हो रहा है। दूसरे, इस छन्द में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल आदि बड़ी तालों में तथा ठुमरी की

तीन तालों में भी सफलतापूर्वक गा सकते हैं, और नाटक आदि के समय इसे काफी प्रवाह के साथ पढ़ भी सकते हैं। आज भी हम रामलीलाओं में, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद के समय, वार्तालाप में इस छन्द का चमत्कार प्रत्यक्ष कर लेते हैं। यदि हिन्दी का कोई जातीय छन्द चुना जाय, तो वह यही होगा। आजकल के मार्जित कानों को कवित्त-छन्द का नाटक में प्रयोग ज़रा खटकता है, और वह इसीलिए कि बार-बार अन्त्यानुप्रास का आना वार्तालाप की स्वाभाविकता को बिगाड़ देता है। बाबू मैथिलीशरणजी को इस विचार से विशेष सफलता मिली है। कारण, कवित्त-छन्द की गति पर उनके अमित्र छन्द में अन्त्यानुप्रास मिटा दिया गया है। नाटकों में सबसे अधिक रोचकता इसी कवित्त-छन्द की बुनियाद पर लिखे गये स्वच्छन्द छन्द द्वारा आ सकती है। इस अपने छन्द को मैं अनेक साहित्यिक गोष्ठियों में पढ़ चुका हूँ, और हिन्दी के प्रसिद्ध अधिकांश सज्जन सुन चुके हैं। एक बार कलकत्ता-पब्लिक-स्टेज पर भी इस छन्द में नाटक लिखकर खेल चुका हूँ। लोगों से मुझे अब तक उत्साह ही मिलता रहा है, पर दूसरों की पठन-अक्षमता के आक्षेप भी अक्सर सुनता रहा हूँ। मेरा विचार है कि अभ्यास के कारण उन्हें पढ़ने में असुविधा होती है। छन्द की गति का कोई दोष नहीं। आजकल हिन्दी के दो-चार और लेखकों तथा कवियों ने इस छन्द में रचना-प्रयास किया है, और उन्हें सफलता भी मिली है। इससे मेरा विश्वास इस पर और भी दृढ़ हो गया है। इस छन्द में art of reading का आनन्द मिलता है, और इसीलिए इसकी उपयोगिता रङ्गमञ्च पर सिद्ध होती है। कहीं-कहीं मिल्टन और शेक्सपियर ने सर्वत्र अपने अतुकान्त काव्य का उपयोग नाटकों में ही किया है। बंगला में माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा अतुकान्त कविता की सृष्टि हो जाने पर नाट्याचार्य गिरीशचन्द्र ने अपने स्वच्छन्द छन्द का नाटकों में ही प्रयोग किया है। स्वच्छन्द छन्द नाटक-पात्रों की भाषा के लिए ही है, यों उसमें चाहे जो कुछ लिखा जाय। अब इसके समर्थन में अधिक कुछ नहीं लिखना। कारण, समर्थन की अपेक्षा अधिकाधिक रचना इसके प्रचार तथा प्रसार का योग्य उपाय है।

मेरी तमाम रचनाओं में दो-चार जगह दूसरों के भाव, मुमकिन है, आ गये हों; पर अधिकांश कल्पना—95 फीसदी—मेरी अपनी है। आवश्यक होने पर इस सम्बन्ध में अन्यत्र लिखूंगा। कविता की पुस्तक में कैफियत से भरी हुई बृहत् भूमिका मेरे विचार से हास्यास्पद है। मैं अपने स्नेहशील मित्रों को कृतज्ञ हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जो मुझे हर तरह से आज तक प्रोत्साहन देते रहे हैं।

—**'निराला'**

3. 'गीतिका' की भूमिका

भूमिका

गीत-सृष्टि शाश्वत है। समस्त शब्दों का मूल-कारण ध्वनिमय ओंकार है। इसी अशब्द संगीत से स्वर-सप्तकों की भी सृष्टि हुई। समस्त विश्व स्वर का ही पुंजीभूत रूप है, अलग-अलग व्यष्टि में स्वर-विशेष—व्यक्ति या मौन।

स्वर-संगीत स्वयं आनन्द है। आनन्द ही इसकी उत्पत्ति, स्थिति और परिसमाप्ति है। जहाँ आनन्द को लोकोत्तर कहकर विज्ञों ने निर्विषयत्व की व्यञ्जना की है—संसार से बाहर, ऊँचे रहनेवाले किसी की ओर इंगित किया है—आनन्द की अमिश्र सत्ता प्रतिपादित की है, वहाँ संगीत का यथार्थ रूप अच्छी तरह समझ में आ जाता है।

आर्यजाति का सामवेद संगीत के लिए प्रसिद्ध है, यों इस जाति ने वेदों में जो कुछ भी कहा, भावमय संगीत में कहा है। संगीत का ऐसा मुक्त रूप अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। गायत्री की महत्ता आज भी आर्यों में प्रतिष्ठित है। इसके नाम में ही संगीत की सूचना है। भाव और भाषा की ऐसी पवित्र झंकार और भी कहीं है, मुझे नहीं मालूम। स्वर के साथ शब्द, भाव और छन्द तीनों मुक्त हैं।

जिस तरह वेदों के बाद मुक्त भाषा व्याकरण में बँधती गयी और अनेकानेक रूपों से वेदों से भावजन्य सामञ्जस्य रखती गयी है, उसी प्रकार संगीत संस्कृत में आकर, छन्द-ताल-वाद्य आदि में बँध गया है। और इस तरह संगीत के अर्थ से समवेत सभ्य-जनों के पवित्र आनन्द का साधक हो गया है। पहले जो भावात्मक निस्संग, एक ही ऋषि-कण्ठ से निकला हुआ था, वह बाद को समुदाय के आनन्द का प्रजनक हुआ। फिर भी उसका लक्ष्य विशुद्ध आनन्द रक्खा गया, यही लोकोत्तर आनन्द से उसका सम्पर्क है। उसमें अनेकानेक अन्वेषण होते रहे। समय के भाव और रूप को समझकर राग और रागिनियाँ निर्मित होने लगीं। इतना ही नहीं, राग और रागिनियों की ताल के अनुसार अनेकानेक गति और तानें बनती

गयीं। आज भारत में जिस प्राचीन संगीत की शिक्षा प्रचलित है, उसकी बुनियाद यही संस्कृतकाल है। इसके बाद, मुसलमानों के शासन के अन्त तक, आज तक, मुसलमान गायकों के अधिकार में जो भिन्न-भिन्न तानें, अदायगी आदि स्वरबद्ध हुई हैं, वे भी प्राचीन संगीत के अन्तर्गत कर ली गयी हैं। यह अलग-अलग घराने की अदायगी और तानें उसी घराने के नाम से प्रचलित हैं। मुसलमान काल में स्वर भी अनेक निर्मित हुए। भारत के विभिन्न प्रान्त भी इस स्वर-सन्धान में अपना अस्तित्व रखते हैं—संगीत पर उनके नाम की छाप पड़ गयी है। यह सब कला के विकास के लिए ही किया गया है; पर अधिक अस्त्र-शस्त्र बाँधने से शस्त्र-संचालन की असली शक्ति जिस तरह काम नहीं करती—सिपाही बोझ से दब जाता है—दूसरे पर विजय करने की जगह उसी के प्राण संकट में पड़ते हैं, वैसे ही तानों के भार से संगीत के क्षीण वृन्त पर खिला पुष्प-शरीर झुकता गया। क्रमशः, ऋषिकण्ठ से गायक-गायिका-कण्ठ में आकर, विश्वदेवता को वन्दित करने की जगह राजा को आनन्दित करता हुआ, गिर गया; लोक से उसका सहयोग अधिक, लोकोत्तरता से कम पड़ता गया; इसलिए आनन्द की श्रेष्ठता कहाँ तक रही, यह सहज अनुमेय है।

'गीतगोविन्द' संस्कृत-काल के बहुत बाद की रचना है; यद्यपि इस समय भी समस्त देश का माध्यम संस्कृत थी, फिर भी प्रादेशिक भाषाएँ इस समय अपना पूरा विस्तार कर चुकी थीं,—उनका यथेष्ट साहित्य तैयार हो चुका था। आज संगीत में मुख्य जितनी तालें प्रचलित हैं, वे प्रायः सभी 'गीतगोविन्द' में हैं। रचना संस्कृत में होने के कारण ताल-सम्बन्धी एक मात्रा की घट-बढ़ उसमें नहीं—बिल्कुल सोने की तोल है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम होता है, मैथिल और बंगला के विद्यापति, चण्डीदास आदि कवियों की रचना में 'गीतगोविन्द' का ही प्रभाव पड़ा है। उड़िया के भी उच्चकोटि के कुछ कवियों के गीतों में वह ढंग है। इन सबकी गीत-रचना उसी तरह भाव-प्रधान, वर्णना-चातुरी और यथार्थ साहित्यिकता से भरी हुई है जिस तरह वेद के मन्त्र-संगीत के मुकाबले संस्कृत का छन्दःसंगीत गठा हुआ होने पर भी, उच्चारण-ध्वनि के मुक्त, सान्द्र एवं गम्भीर भाव-बोध के विचार से गिरा हुआ जान पड़ता है, उसी तरह रस-प्रधान कोमल-कान्त पदावली 'गीतगोविन्द' के मुकाबले वैष्णव कवियों की रचनाएँ कमजोर मालूम पड़ती हैं; परन्तु आजकल की रीति से अश्लीलता का विचार रखने पर चण्डीदास और गोविन्ददास (बिहारी) अधिक शुद्ध हैं।

हिन्दी में जो प्रचलित गीत हैं, उनमें कबीर के गीत शायद सबसे प्राचीन हैं; कई दृष्टियों से कबीर का बहुत ऊँचा स्थान है। कबीर की भाषा का ओज अन्यत्र कम प्राप्त होता है। फिर भी साहित्य और संगीत के विचार से, दोनों की संस्कृति की दृष्टि से, मुझे कबीर के गीत आदर्श गीत नहीं मालूम होते। सूर के गीत साहित्यिक महत्त्व रखते हैं, तुलसी के भी ऐसे ही हैं। मीरा संगीत की देवी हैं। जनता में कबीर से मीरा तक सभी के गीत प्राणों की सम्पत्ति हैं। आज तक इन्हीं गीतों के आधार पर लोग अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को पकड़े हुए हैं; परन्तु यह सब होते हुए भी, आधुनिक दृष्टि से जो एक दोष पदों में है, वही एक दूसरे रूप से सूर,

तुलसी और मीरा में भी है। कबीर निर्गुण ब्रह्म की उपासना में आधुनिक-से-आधुनिक के मनोनुकूल होते हुए भी भाषा-साहित्य-संस्कृत में जैसे अमार्जित हैं, वैसे ही तुलसी आदि भाषा-संस्कार रखते हुए भी कृष्ण और राम की सगुण उपासना के कारण आधुनिकों की रुचि के अनुकूल नहीं रहे। यह सत्य है कि राम और कृष्ण का ब्रह्मरूप अब अनेक आधुनिक समझते हैं और इन अवतार-पुरुषों और इन पर लिखी गयी पदावली से उन्हें हार्दिक प्रेम है; पर फिर भी इनकी लीलाओं के पुनः-पुनः मनन, कीर्तन और उल्लेख से उन्हें तृप्ति नहीं होती, फिर खड़ी बोली केवल बोली में ही नहीं खड़ी हुई, कुछ भाव भी उसने ब्रजभाषा-संस्कृति से भिन्न, अपने कहकर खड़े किये हैं, यद्यपि वे बहिर्विश्व की भावना से संश्लिष्ट हैं। राम और कृष्ण का साहित्य खड़ी बोली ने भी यथेष्ट दिया है और देती जा रही है।

सन्त-पदावली से एक बहुत बड़ा उपकार जनता का हुआ। जहाँ संगीत की कला दरबार में तरह-तरह की उखाड़-पछाड़ों से पीड़ित हो रही थी, भावपूर्ण सीधा-सादा स्वर लुप्त हो रहा था, वहाँ भक्त साधकों और साधिकाओं के रचे गीत और स्वर यथार्थ संगीत की रक्षा कर रहे थे, और जनता पूरे आग्रह से यथा-साध्य इनका अनुकरण करती थी—भजन की महत्ता का यही कारण है।

पर समय ने पलटा खाया। पश्चिम की एक दूसरी सभ्यता देश में प्रतिष्ठित हुई। इसका प्रभाव हर तरह बुरा रहा, ऐसा कोई समझदार नहीं कह सकता। इसके शासन का सुफल उन्नति के सभी मार्गों में प्रत्यक्ष है। जिस तरह मुसलमानों के शासन-काल में गजलों की एक नये ढंग की अदायगी देश में प्रचलित हुई और लोकप्रिय भी हुई—आज युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बिहार आदि प्रदेशों में गजलों का जनता पर अधिक प्रभाव है, उसी तरह यहाँ अँगरेजी संगीत का प्रभाव पड़ा। अभी अँगरेजी संगीत का प्रभाव बंगाल के अलावा अन्य प्रदेशों पर विशेष रूप से नहीं पड़ा—दूसरे लोगों ने अपने गीतों की स्वर-लिपि उस तरह से तैयार करके जनता के सामने नहीं रक्खी; पर यह प्रभाव बंगाल के अलावा अन्यत्र भी अब फैल रहा है। बँगला-साहित्य ने गजलों को भी अपनाया है; पर यह रंग मुसलमान काल में नहीं, अँगरेजी शासन के बाद उस पर चढ़ा, और उर्दू की गजलें नहीं गयीं, बँगला में ही तैयार की गयीं। अँगरेजी संगीत से प्रभावित होने के ये माने नहीं कि उसकी हू-ब-हू नकल की गयी। अँगरेजी संगीत की पूरी नकल करने पर उससे भारत के कानों की कभी तृप्ति होगी, यह सन्दिग्ध है। कारण, भारतीय संगीत की स्वर-मैत्री में जो स्वर प्रतिकूल समझे जाते हैं, वे अँगरेजी संगीत में लगते हैं। उनसे अँगरेजी (मेरा 'अँगरेजी' शब्द से मतलब पश्चिमी से है) हृदय में ही भाव पैदा होता है। अस्तु, अँगरेजी संगीत के नाम से जो कुछ लिया गया है, उसे हम अँगरेजी संगीत का ढंग कह सकते हैं। स्वर-मैत्री हिन्दुस्तानी ही रही। डी. एल. राय और रवीन्द्रनाथ इस ढंग के अपनाने के प्रधान साहित्यिक कहे जायँगे। एक स्वर 'डी. एल. राय का स्वर' के नाम से बंगाल में प्रसिद्ध है। इसकी लोकप्रियता आज तक है। यह स्वर अँगरेजी ढंग से निर्मित है; पर इसे भारतीयता का रूप दिया गया है। स्वर-मैत्री के विचार से रवीन्द्रनाथ के संगीत का ढंग और साफ अँगरेजीपन लिये हुए है। फिर भी ये भिन्न-भिन्न रागिनियों में ही बाँधे हुए हैं।

सिर्फ अदायगी अँगरेजी है। राग-रागिनियों में भी स्वतन्त्रता ली गयी है। भाव-प्रकाशन के अनुकूल उनमें स्वर-विशेष लगाये गये हैं—उनका शुद्ध रूप मिश्र हो गया है। यह भाव-प्रकाशनवाला बोध पश्चिम संगीत-बोध के अनुसार है।

इस प्रकार शब्द और स्वर की रचना पहले से भिन्न हो गयी है और होती जा रही है। कला के सभी अंगों में यह कार्य मौलिकता के नाम से होता है और आधुनिक जनों को ऐसी मौलिकता अच्छी भी लगती है। यह वह समय है, जब संसार की सभी जातियों में आदान-प्रदान चल रहा है, मेल-मिलाप हो रहा है। साहित्य इसका माध्यम है। इसलिए साहित्यिक संसार की अच्छी चीजों का समावेश अपने साहित्य में करते हैं और उनके प्राणों के रंग से रंगीन होकर वे चीज़ें साधारणों को भी रँग देती हैं। इस प्रकार अन्य जाति के होने पर भी वस्तु-विषय मनुष्य-मात्र के होते जा रहे हैं। आधुनिक साहित्य का संक्षेप में यही कार्य, यही उत्कर्ष और यही सफलता है। जो साहित्य इसमें जितना पिछड़ा हुआ है, वह उतना ही अधूरा समझा जाता है।

यद्यपि मुझे पश्चिम के किसी प्रसिद्ध देश में अधिक काल तक रहने का सुयोग नहीं मिला, फिर भी मैं कलकत्ता और बंगाल में उम्र के बत्तीस साल तक रह चुका हूँ और कलकत्ता में आधुनिक भावना के किसी आकार से अपरिचित रहने की किसी के लिए वजह न होगी अगर वह अपने काम से ही काम न रखकर परिचय भी करना चाहता है। चूँकि बचपन में औरों की तरह मैं भी निष्काम था, इसलिए सब प्रकार के सौन्दर्यों को देखने और उनसे परिचित होने के सिवा मेरे अन्दर दूसरी कोई प्रेरणा ही न उठती थी। क्रमशः ये संस्कार बन गये। जिस तरह घर के अहाते में घर के, अवधी, बैसवाड़ी या कनौजिया संस्कार तैयार हो रहे थे, उसी तरह बाहर, बाहरी संसार के। अन्त में वे मेरे अपने संस्कार बन गये। वे मेरे साहित्य में प्रतिफलित हुए, जिनसे हिन्दी-साहित्य और हिन्दू-संस्कृति को मेरे साहित्य के समझदारों के कथनानुसार गहरा धक्का पहुँचा।

इन संस्कारों के फलस्वरूप हिन्दी-संगीत की शब्दावली और गाने का ढंग, दोनों मुझे खटकते रहे। न तो प्राचीन 'ऐसो सिय रघुबीर भरोसो' शब्दावली अच्छी लगती थी, यद्यपि इसमें भक्तिभाव की कमी न थी, न उस समय की आधुनिक शब्दावली 'तोम-तीरें सब धरी रह जायँगी मगरूर सुन' यद्यपि इसमें वैराग्य की मात्रा यथेष्ट थी। हिन्दी-गवैयों का सम पर आना मुझे ऐसा लगता था, जैसे मजदूर लकड़ी का बोझ मुकाम पर लाकर धम्म से फेंककर निश्चिन्त हुआ। मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि खड़ी बोली की संस्कृति जब तक संसार की अच्छी-अच्छी सौन्दर्य-भावनाओं से युक्त न होगी, वह समर्थ न होगी। उसकी सम्पूर्ण प्राचीनता जीर्ण है। मैंने पद्य के अपर अंगों में जो थोड़ा-सा काम किया है, वह खड़ी बोली के अनुरूप-प्रतिरूप जैसा भी हो, उसके अलावा कुछ गीत भी मैंने लिखे हैं। वही इस पुस्तिका में संकलित हैं। प्राचीन गवैयों की शब्दावली, संगीत की रक्षा के लिए, किसी तरह जोड़ दी जाती थी; इसलिए उसमें काव्य का एकान्त अभाव रहता था। आज तक उनका यह दोष प्रदर्शित होता है। मैंने अपनी शब्दावली; को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है। ह्रस्व-दीर्घ को घट-बढ़ के कारण पूर्व-

वर्ती गवैये शब्दकारों पर जो लाञ्छन लगता है, उससे भी बचने का प्रयत्न किया है। दो एक स्थलों को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह संगीत के छन्दःशास्त्र की अनुवर्तिता की है। भाव प्राचीन होने पर भी प्रकाशन का नवीन ढंग लिये हुए हैं। साथ-साथ उनके व्यक्तीकरण में एक-एक कला है, जिसका परिचय विज्ञ जन अपने अन्वेषण से आप प्राप्त कर सकेंगे। यहाँ मैं उन पर विशेष रूप से न लिख सकूँगा। वे उस रूप में हिन्दी के न थे, इतना मैं लिखे देता हूँ। जो संगीत कोमल, मधुर और उच्च भाव तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है। ताल प्रायः सभी प्रचलित हैं। प्राचीन ढंग रहने पर भी वे नवीन कण्ठ से नया रंग पैदा करेंगी।

धम्मार

"प्राण-धन को स्मरण करते,
नयन झरते—नयन झरते!"

धम्मार की चौदह मात्राएँ दोनों पंक्तियों में हैं। गति भी वैसी ही। इसके अन्तरे में विशेषता है—

"स्नेह ओतप्रोत;
सिन्धु दूर, शशिप्रभा-दृग
अश्रु ज्योत्स्ना-स्रोत।"—

यहाँ पहली और तीसरी पंक्ति में चौदह-चौदह मात्राएँ नहीं हैं, दूसरी में हैं। पहली और तीसरी पंक्ति में मात्रा भरनेवाले शब्द इसलिए कम हैं कि वहाँ स्वर का विस्तार अपेक्षित है, और दोनों जगह बराबर पंक्तियाँ रक्खी गयी हैं। यह मतलब गायक आसानी से समझ लेता है। यह उस तरह की घट-बढ़ नहीं जैसे पुराने उस्ताद गवैयों के गीतों में मिलती है। पहली लाइन की चौदह मात्राएँ इस तरह पूरी होंगीः—

```
1   2    2   2   2   2   2    1 = 14
|   |    |   |   |   |   |
स्ने+ह+ओ+त+प्रो+ओ+ओ+त-
```

गाने में हर मात्रा अलग उच्चारित होगी। इसी प्रकार तीसरी पंक्ति की मात्राएँ बैठेंगी। यह संगीत-रचना की कला में गण्य है।

रूपक

यह सात मात्राओं की ताल है—

"जग का एक देखा तार।
कण्ठ अगणित, देह सप्तक,
मधुर स्वर-झंकार।"—

इसका एक विभाजन मैं कर रहा हूँ; पर गायक सुविधा या इच्छानुसार कहीं भी सम रख सकता है। मैं केवल सात-सात मात्राओं का विभाजन कर रहा हूँ—

'एक देखा। तार जग का।
कण्ठ अगणित। देह सप्तक।
मधुर स्वर-झङ्। कार जग का।'

झपताल

यह दस मात्राओं की ताल है। इसके भी कई गीत इसमें हैं—

'अनगिनित आ गये शरण में जन जननि,
सुरभि-सुमनावली खुली मधुऋतु अवनि।'

—इसे ह्रस्व-दीर्घ के अनुसार पढ़ने पर ताल का सत्य-रूप स्पष्ट हो जायेगा। खड़ीबोली के आधुनिक कवियों ने इस छन्द की रचना नहीं की। अगर की है, तो मैंने देखी नहीं। इसका मात्रा विभाजन—

'अनगिनित आ गये।
शरण में जन, जननि।
सुरभि सुमनावली।
खुली मधुऋतु अवनि।'—

जिस तरह गानेवाले धम्मार को रूपक और रूपक को धम्मार में गा सकते हैं, उसी तरह झपताल के गवैये इसे शूल में भी बाँध सकते हैं। झपताल में आघात इस प्रकार आयेंगे—

```
 †    |     |
"अ न गि नि त आ—ग ये—"
```

और शूल में इस प्रकार—

```
 *   |   |    | |
"अ न गि नि त आ—ग ये—"
```

चौताल

इसमें बारह मात्राएँ होती हैं। इसकी भी कई रचनाएँ इसमें हैं—

"अमरण भर वरण-गान
वन-वन उपवन-उपवन
जागी छवि, खुले प्राण।
वसन विमल तन-वल्कल
पृथु उर सुर-पल्लव-दल,
उज्ज्वल दृग कलि कल, पल
निश्चल, कर रही ध्यान!"

हर लड़ी में बारह मात्राएँ हैं। कहीं भी घट-बढ़ नहीं। गायक आसानी से ताल-विभाजन कर लेगा। वह इसे देखते ही इसका स्वरूप पहचान जायगा।

तीन ताल

इसमें सोलह मात्राएँ होती हैं। लोगों में सोलह मात्रावाली चीज़ों का अधिक

प्रचलन है; इसलिए इस ताल की रचनाएँ इसमें अधिक हैं—

"आओ मधुर-सरण मानसि, मन।
नूपुर-चरण-रणन जीवन नित
वंकिम चितवन चित-चारु मरण !"

या—

"मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर, खिल न सकेगा ?"

कहीं-कहीं सोलह मात्रावाली रचना में भिन्न प्रकार रक्खा गया है। गायक के लिए अड़चन न होगी। न पढ़नेवाले पाठकों के लिए होगी; पर जो पाठक ताल के जानकार नहीं, वे 'सम' ठीक रखकर गा न सकेंगे।

दादरा

इसमें छः मात्राओं की ताल है। इसके अनेक रूप पुस्तक में हैं; ठेठ हिन्दी-दादरा के गवैये भ्रम में पड़ सकते हैं। यों तो खड़ीबोली के गाने ही वे नहीं गा सकते, अगर वह खड़ीबोली कुछ या काफी हद तक पड़ी हुई नहीं, फिर जहाँ खड़ीबोली स्वयम् अग्रगामिनी नहीं—भाव की पश्चाद्वर्त्तिनी है, वहाँ तो गवैयों की ज़बान को सख्त परेशानी होगी।

—"सखि, वसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन
नवोत्कर्ष छाया।
किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप-वृन्द वन्दी—
पिक-स्वर नभ सरसाया।"

इसका छः मात्राओं में विभाजन :—

सखि वसन्त। आया—।
भरा हर्ष। वन के मन।
नवोत्कर्ष। छाया—।
किसलय-वस। ना नव-वय। लतिका—।
मिली मधुर। प्रिय-उर तरु—। पतिका—।
मधुप वृन्द। वन्दी, पिक।
स्वर-नभ सर। साया—।

छः का विभाजन है। अन्त की चार मात्राओं को स्वर के बढ़ाने से छः मात्रा-काल मिलेगा।

एक और—

"अपने सुख-स्वप्न से खिली
वृन्त की कली।

उसके मृदु उर से
प्रिय अपने मधुपुर के
देख पड़े तारों के सुर-से;
विकच स्वप्न-नयनों से मिली फिर मिली,
वह वृन्त की कली।"

विभाजन—

अपने सुख। स्वप्न से खि। ली—।
वृन्त की क। ली—।
उसके मृदु। उर से प्रिय।
अपने मधु। पुर के—
देख पड़े। तारों के। सुर से—।
विकच स्वप्न। नयनों से। मिली फिर मि। ली—वह।
वृन्त की क। ली—"

'ली' के बाद बाकी मात्राएँ स्वर-विस्तार से पूरी होती हैं। अन्त में एक जगह 'ली' के साथ 'वह' आ गया है। वहाँ 'ली' की दो मात्राएँ स्वर से और दो मात्राएँ लेती हैं; बाकी दो 'वह' में आ जाती हैं; यों 'ली—' दो मात्राओं की होती हुई भी ऊपर छः मात्राएँ पूरी करली है, यानी चार मात्राएँ स्वर के विस्तार से आती हैं। बाकी छः का विभाजन पूरा है, स्वर घटता-बढ़ता नहीं। जहाँ, बीच में, घट-बढ़ होना बुरा माना जाता है, वहाँ, बाद को, कला।

आड़ा-चौताल जैसी कुछ तालें नहीं आ पायीं। इनकी पूर्ति, समय मिला, तो मैं फिर करूँगा। गीतों पर राग-रागिनी का उल्लेख मैंने नहीं किया। कारण, गीत हर एक राग-रागिनी में गाया जा सकता है। जो लोग राग-रागिनी की सामयिकता का विचार रखते हैं, वे गीत के भाव को समझकर समयानुकूल राग-रागिनी में बाँध सकेंगे, रचना के समय इधर मैंने यथेष्ट ध्यान रक्खा था। कुछ गीत समय के दायरे से बाहर हैं। उनके लिए गायक का उचित निर्णय आवश्यक होगा। उनके भाव किस-किस राग-रागिनी में अच्छी अभिव्यक्ति पायेंगे, यह मैंने गायक की समझ पर छोड़ दिया है।

पर यह निश्चय है कि ब्रजभाषा के पद गानेवालों के लिए साफ उच्चारण के साथ इन गीतों का गाना असम्भव है। वे इतने मार्जित नहीं हो सके। अपनी अमित्र कविता की तरह अपने गीतों के लिए भी मैं इधर-उधर सुन चुका था कि ये गीत गाये नहीं जा सकते; पर मैं उन न-गा-सकनेवाले गायकों की अक्षमता का कारण पहले से ही समझ चुका था। उनमें कुछ आधुनिक विद्यार्थी भी थे। मैं खड़ीबोली में जिस उच्चारण-संगीत के भीतर से जीवन की प्रतिष्ठा का स्वप्न देखता आया हूँ, वह ब्रजभाषा में नहीं। ब्रजभाषा के पदों के गानेवाले उस्ताद, प्राचीन उत्तरी संगीत-स्कूल के कलावन्त, जिन्हें खड़ीबोली का बहुत साधारण ज्ञान है, मेरे गीत गा न सकेंगे, यह मैं जानता था और इस ज्ञान के आधार पर गीतों की स्वर-लिपि मैं स्वयम् करना चाहता था; पर कुछ ऐसी परिस्थिति मेरी रही कि सब तरफ से अभाव-ही-अभाव का सामना मुझे करना पड़ा। एक अच्छे हारमोनियम

की गुंजाइश भी मेरे लिए नहीं हुई। मेरी सरस्वती संगीत में भी मुक्त रहना चाहती है, सोचकर मैं चुप हो गया। आदरणीय बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त, वरेण्य बाबू जयशंकरजी 'प्रसाद', मान्य श्रीमान् रायकृष्णदासजी, सभ्रान्त मित्र दुलारेलालजी भार्गव और श्रेष्ठ साहित्यिक पं. नन्ददुलारेजी वाजपेयी-जैसे हिन्दी के कलाकारों की आज्ञा से, कभी-कभी मुक्त-कण्ठ होकर और कभी हारमोनियम लेकर इनमें से कुछ-कुछ गीत मैंने गाकर सुनाये हैं। इनके स्वर उन्हीं तक परिमित हैं। चूँकि मैं बाजार का नहीं बन सका, शायद इसीलिए सरस्वती ने मेरे स्वरों को बाजारू नहीं बनने दिया।

गीतों में कहीं-कही मैंने परिवर्तन किया है। दो-एक जगह यह परिवर्तन एक प्रकार आमूल हो गया है। गीतिका का 37वाँ गीत पाक्षिक 'जागरण' में इस प्रकार छपा था—

"आओ उर के नव पुष्पों पर
हे जीवन के कर कोमल तर।
खुल गये नयन, प्रस्फुट यौवन,
भर गया वनों में भ्रम-गुञ्जन,
चंचल लहरों पर भर नर्तन
आओ समीर, आशा हर हर!
यह क्षणिक काल यों बह न जाय,
अभिलषित अधूरी रह न जाय,
प्रिय, विरह तुम्हारा, सह न जाय,
भर दो चुम्बन नव-स्मृति-सुखकर!
मैं जगज्जलधि की वृन्तहीन
खुल रही एक कलिका नवीन,
हे विमुख, सदा मैं मुखर, पीन,
आओ अपत्रिका के मर्मर!"

पं. वाचस्पतिजी पाठक-जैसे मेरे काव्य से समधिक प्रेम करनेवाले कुछ साहित्यिकों को गीत का यह रूप अधिक पसन्द है। इस प्रकार मेरे कुछ परिवर्तन उन्हें रुचिकर नहीं हुए, कुछ से वे बहुत प्रीत हैं।

खड़ीबोली में नये गीतों के भी प्रथम सृष्टिकर्त्ता 'प्रसाद'जी हैं। उनके नाटकों में अनेक प्रकार के नये गीत हैं। मैंने 1927-28 ई. में 'प्रसाद'जी का पूरा साहित्य देखा था। उनके अत्यन्त सुन्दर पद—

'चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी-होड़ लगायी!'

का मैं कई जगह उद्धरण दे चुका हूँ। गुप्तजी के भी अनेक गीत मैंने कण्ठस्थ किये थे।—

'सभी दशाओं में सदैव हे पर-हित-हेतु-शरीर, प्रणाम !'—मुझे अभी नहीं भूला।

मेरे विद्वान् मित्र पं. नन्ददुलारेजी इन गीतों से प्रीत होकर साधारण जनों के सुभीते के विचार से गीतों के क्लिष्ट शब्दों के अर्थ दे रहे हैं, एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

—'निराला'

4. गीतिका का समर्पण

गीतिका

जिसकी हिन्दी के प्रकाश से, प्रथम परिचय के समय, मैं आँखें नहीं मिला सका—लजाकर हिन्दी की शिक्षा के संकल्प से, कुछ काल बाद देश से विदेश, पिता के पास चला गया था और उस हिन्दी-हीन प्रान्त में, बिना शिक्षक के, 'सरस्वती' की प्रतियाँ लेकर, पद-साधना की और हिन्दी सीखी थी; जिसका स्वर गृहजन, परिजन और पुरजनों की सम्मति में मेरे (संगीत) स्वर को परास्त करता था; जिसकी मैत्री की दृष्टि क्षण-मात्र में मेरी रुक्षता को देखकर मुस्करा देती थी; जिसने अन्त में अदृश्य होकर मुझसे मेरी पूर्ण-परिणीता की तरह मिलकर मेरे जड़ हाथ को अपने चेतन हाथ से उठाकर दिव्य श्रृंगार की पूर्ति की, उस सुदक्षिणा स्वर्गीया प्रियाप्रकृति

श्रीमती मनोहरादेवी को
सादर।

काशी
27-7-36

—निराला

5. द्वितीय 'अनामिका' का समर्पण

स्वर्गीय
समादर्श मित्रवर
'मतवाला'-सम्पादक
बाबू महादेवप्रसादजी सेठ
की
पुण्यस्मृति
में

उन्हीं का—"निराला"

6. द्वितीय 'अनामिका' की भूमिका

प्राक्कथन

'अनामिका' नाम की पुस्तिका मेरी रचनाओं का पहला संग्रह है। आदरणीय मित्र स्वर्गीय श्री बाबू महादेवप्रसादजी सेठ ने प्रकाशित की थी। वे मेरी रचनाओं के पहले प्रशंसक हैं। तब मेरी कृतियाँ पत्र-पत्रिकाओं से प्रायः वापस आती थीं। मैं भी उदास और निराश हो गया था। महादेव बाबू विद्वान् व्यक्ति थे; साथ-साथ तेजस्वी और उदार। यद्यपि उनसे मेरा परिचय मेरे समन्वय-सम्पादन-काल में हुआ, फिर भी वैदान्तिक साहित्य से खींचकर हिन्दी में परिचित और प्रगतिशील मुझे उन्होंने किया, अपना 'मतवाला' निकालकर। मेरा उपनाम 'निराला' 'मतवाला' के ही अनुप्रास पर आया था। अस्तु, उस 'अनामिका' की अच्छी कृतियाँ बाद के 'परिमल' नाम के संग्रह में आ गयी थीं, अधूरी निकाल दी गयी थीं। इस 'अनामिका' में उसका कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं। यह नामकरण मैंने सिर्फ इसलिए किया है कि इसे उन्हें ही उनकी स्मृति में समर्पित करूँ। उनकी तारीफ में मैंने जब-जब कलम उठाया है, लेखनी रुक गयी है। वे मुझे कितना चाहते थे, इसका उल्लेख असम्भव है; और यह ध्रुव-सत्य कि वे न होते तो 'निराला' भी न आया होता।

लखनऊ
20-12-37

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी

7. 'तुलसीदास' का समर्पण

आदरणीय अग्रज
पण्डित श्री श्रीनारायणजी चतुर्वेदी महोदय
के
कर-कमलों में
साहित्य-स्नेह-स्मृति-रूप
तुलसीदास

—निराला

लखनऊ
22-12-38

72792

निराला

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म : 21 फरवरी, 1899 (स्थान : बंगाल के मेदिनीपुर जिले का महिषादल नामक देशी राज्य। मूल निवास : उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले का गढ़ाकोला नामक गाँव) **मृत्यु** : 15 अक्टूबर, 1961 (दारागंज, इलाहाबाद) **शिक्षा** : हाई स्कूल तक। हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से प्राप्त किया। **वृत्ति** : प्रायः 1918 ई० से लेकर 1922 ई० के मध्य तक महिषादल राज्य की सेवा में। उसके बाद से सम्पादन, स्वतन्त्र लेखन और अनुवाद-कार्य। 1922-23 ई० में 'समन्वय' (मासिक, कलकत्ता) का सम्पादन। 1923 ई० के अगस्त से 'मतवाला'-मण्डल में। 'मतवाला' से सम्बन्ध किसी न किसी रूप में 1929 ई० के मध्य तक बना रहा। इस बीच स्वतन्त्र लेखन और बाजार का काम' भी करते रहे। कलकत्ता छोड़ा तो लखनऊ आये, जहाँ गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय और वहाँ से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'सुधा' से 1935 ई० के मध्य तक सम्बद्ध रहे। प्रायः 1940 ई० तक लखनऊ में। तत्पश्चात् कभी इलाहाबाद और कभी उन्नाव में। 1942-43 ई० से स्थायी रूप में इलाहाबाद में रहकर स्वतन्त्र लेखन और अनुवाद-कार्य। **साहित्य** : पहली प्रकाशित कविता : 'जन्मभूमि' ('प्रभा', मासिक, कानपुर, जून, 1920)। पहला प्रकाशित निबन्ध : 'बंगभाषा का उच्चारण' ('सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अक्तूबर, 1920)। पहली प्रकाशित पुस्तक : **अनामिका** (1923 ई०)। प्रमुख कृतियाँ : **परिमल**, **गीतिका**, **द्वितीय अनामिका**, **तुलसीदास**, **कुकुरमुत्ता**, **अणिमा**, **बेला**, **नये पत्ते**, **अर्चना**, **आराधना**, **गीत गुंज**, **सान्ध्य काकली** (कविता), **अप्सरा**, **अलका**, **प्रभावती**, **निरुपमा**, **कुल्ली भाट**, **बिल्लेसुर बकरिहा** (उपन्यास), **लिली**, **चतुरी चमार** (कहानी), **रवीन्द्र-कविता-कानन**, **प्रबन्ध-पद्म**, **प्रबन्ध-प्रतिमा**, **चाबुक**, **चयन**, **संग्रह** (निबन्ध) और **महाभारत** (पुराकथा)।

यह कवि अपराजेय निराला,
जिसको मिला गरल का प्याला;
ढहा और तन टूट चुका है,
पर जिसका माथा न झुका है;
शिथिल त्वचा, ढलढल है छाती,
लेकिन अभी सँभाले थाती,
और उठाये विजय पताका —
यह कवि है अपनी जनता का !

रामविलास शर्मा

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नयी दिल्ली – पटना